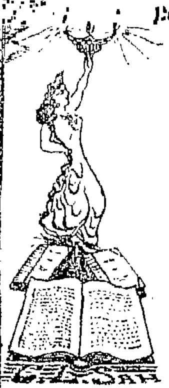


'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'

चाबुक

निराला



कला मन्दिर
इलाहाबाद

प्रकाशक
उमाशंकर सिंह
कला-मन्दिर,
दारागंज, इलाहाबाद

मूल्य : एक रुपया

मुद्रक
श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा
नागरी प्रेस,
दारागंज, प्रयाग



परिचय

ढीला-ढाला खद्दर का लम्बा कुर्त्ता, लुंगी, पाँव में चप्पल, हाथ में डंडा तथा प्रतिभा से दीप्त व्यक्तित्व !

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को हमारे अधिकांश पाठकों ने इस रूप में बहुत बार देखा होगा, कुछ ने उनका वह रूप भी देखा होगा जब आस्कन्ध केशराशि में पूरी शीशी इत्र चुपड़ा होता है, लुंगी के स्थान पर यथाविधि धोती होती है। हमारे इस वर्णन का उद्देश्य केवल यही है कि 'निराला' के लिये दोनों अवस्थायें समान हैं।

उनके ऊपर भर्तृहरि के नीतिशतक का यह अंश सम्पूर्ण रूप से लागू होता है—

क्वचित् भूमौ शैया क्वचिदपि च पर्यंक शयनं,
क्वचिच्छाकाहारौः क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरौः,
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥

हम जानते हैं और हमारा विश्वास है, यदि विदेशों के सौभाग्य से निराला ने वहाँ जन्म लिया होता या उनकी तरुणी प्रतिभा-परी किसी विदेशी भाषा के आँगन में नर्तित हुई होती तो निराला आज पूजा के योग्य वस्तु हो गये होते। इतना ही नहीं, हम तो यहाँ तक कहने को प्रस्तुत हैं कि हिन्दी की अपेक्षा किसी अन्य भारतीय भाषा में भी निराला आज अपने को शीर्ष-स्थान पर पहुँचा चुके होते। हम हिन्दीवालों का ही यह दुर्भाग्य है कि जीते जी हम जिससे बात भी नहीं करते, मरने पर उसके मज़ार पर जाकर दो बूँद आँसू गिरा आने की कल्पना करते हैं। निराला चिरायु हों; हम अपनी उस नीति का रोना रो रहे हैं जो अभी कुछ दिन पहले स्वर्गीय प्रेमचन्द और प्रसाद के स्मारकों के विषय में हमने ग्रहण की थी। सभी को यह मालूम है कि उक्त दोनों कलाकारों का कोई ठोस स्मारक आज तक नहीं बन पाया, कारण कुछ भी हो।

अस्तु, हमारा अभिप्राय निराला के प्रति अबतक दिखाई गई अधिकांश पाठकों और साहित्यिकों की मनोवृत्ति बतलाना था।

यह शिकायत बहुत अंश तक सही है कि निराला सहज-ग्राह्य नहीं हैं, उनकी काव्य-साधना अथवा उनका सम्पूर्ण साहित्य कुछ अध्ययनशील और ऊँचे पाये के दिमाग़ वालों का ही मनोरंजन कर सकता है। सही होते हुये भी हम इस बात से अपना किञ्चित् मतभेद प्रकट करना चाहते हैं। इस शिकायत का आधार जहाँ हमारे पठित समाज में अध्ययनशील व्यक्तियों का अभाव है वहाँ 'राम की शक्ति पूजा' जैसी उत्कृष्ट कविता के अंत में एक 'छू' जोड़ कर भूत झाड़ने का मन्त्र बना देने की प्रवृत्ति भी है। यदि किसी चीज़ को समझने और ग्रहण करने की सम्पूर्ण चेष्टा कर ली जाय, फिर भी ऐसा होना सम्भव न हो तब तो क्षम्य कहा जा सकता है किन्तु जहाँ चेष्टा ही न हो और उसके अभाव में व्यर्थ अपने ही खोखलेपन का परिचय दिया जाय, उसे क्या कहा जा सकता है, यह तो अज्ञ-जन स्वयं समझ ले सकते हैं। हम मानते हैं कि निराला की काव्य-साधना टेढ़े-मेढ़े अनेक पथ से होती हुई आगे बढ़ी है; कष्ट-ग्राह्य तथा किन्हीं अंशों तक दुर्बोध भी है किन्तु इससे निराला की प्रतिभा पर आँच नहीं आती, प्रत्युत ऐसा कह कर हम स्वयं अपनी अधूरी शिक्षा और साहित्य के अत्यल्प ज्ञान का ही परिचय देते हैं। यह निराला की ही असाधारण साधना-शक्ति और प्रतिभा-सामर्थ्य थी जो इतने विरोध और उपेक्षा का खुले हृदय से स्वागत कर आज के अपने शीर्ष-स्थान पर पहुँच सकी। वे दिन हिन्दी-भाषियों को, स्वयं निराला को, भूले न होंगे

जब मुक्त-छन्द उनकी क़लम से निकलते देखकर हमने बावेला-सा खड़ा कर रक्खा था। आज इन मुक्त छन्दों का हिन्दी में क्या स्थान है, यह भी हम जानते हैं।

हम यहाँ निराला की प्रतिभा के आलोचक बनने की इच्छा नहीं रखते। आजदिन उन्हें इसकी अपेक्षा नहीं। शायद ही कोई ऐसा हिन्दी का जानकार हो जो निराला से, उनके काव्य से, उनकी भाषा-सेवा से अनवगत हो। अपने ख्यात काव्य-ग्रन्थों, उपन्यासों और बंकिमचन्द्र के हाल के निकले अनुवादों द्वारा वे आज प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी के घर में पहुँच चुके हैं।

जैसा कि हमने अपने पूर्व-प्रकाशन 'अर्घ्यदान' के प्रकाशकीय में लिखा था, हमारा उद्देश्य जनता को कृति के साथ कृतिकार के जीवन से अवगत कराना है ताकि वे समझ सकें कि जिस चीज़ को लेकर वे झूम २ उठते हैं, जिसकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते नहीं अघाते, उसकी पृष्ठ-भूमि क्या और कैसी है। हम अपनी इस चेष्टा में सफल हों या नहीं, अपना काम तो करेंगे ही।

निराला का जीवन भी उनके साहित्य-साधना की ही भाँति संघर्षमय है। समय-असमय जिस तरह उनकी साहित्य-सम्बन्धी-धारणा लेकर जनता में चर्चा चली है उसी तरह ठौर-कुठौर उनके व्यक्तिगत जीवन की भी आलोचनायें हुई हैं। बहुधा यह आलोचनायें उन्हीं लोगों के द्वारा प्रचलित हुई हैं जो इतनी सीधी सी बात भी नहीं समझते कि एक सार्वजनिक महत्व के व्यक्ति के

जीवन-पटों को—उसकी सार्वजनीनता किसी भी कारण हो—उघार कर देखने का अधिकार किसी को नहीं। कम से कम इस प्रकार की आलोचना—प्रत्यालोचना से समाज का कुछ भी हित नहीं सध सकता। बृटिश एम्पायर के प्राइम-मिनिस्टर घर पर रोटी मक्खन खाते हैं या और कुछ तथा गान्धी जी धोती के स्थान पर लुंगी ही क्यों पसन्द करते हैं, इस तरह की आलोचनाओं से हमारा कौन सा कल्याण हो सकता है, यह हम नहीं समझते। हमें केवल इससे ही मतलब रखना है कि प्राइम-मिनिस्टर कुछ भी खाते पीते हों, वे प्राइम-मिनिस्टर हैं और गान्धी जी भले ही लुंगी लपेटते हों, आज कोटि २ भारतीय-जन के भगवान हैं। निराला के प्रत्यक्ष रूप की अवहेलना कर उस रूप के पीछे झांकने का प्रयास भी जो करते हैं वह कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति रखने वाले होंगे। और फिर, हम यह कटु-सत्य क्यों आँखों से ओझल रखना चाहते हैं कि एक कलाकार, वह चित्र-शिल्पी हो, संगीतज्ञ अथवा उपन्यासकार या कवि हो, साधारणजन से अवश्य भिन्न होगा। उसका स्वभाव सदैव अन्य लोगों से भिन्न होगा। यह बात दूसरी है कि अपनी बुद्धि के अनुसार हम उसे देवता की कोटि में रक्खें या दानव के। कलाकार का निर्माण भी उन्हीं तत्वों से होता है जिनसे साधारण जन का, किन्तु परिस्थितियाँ और वातावरण उसमें कुछ ऐसा भर देते हैं जो अन्य लोग चेष्टा करके भी नहीं पा सकते।

निराला के 'मूड' को लेकर, उनके कभी २ के प्रत्यक्ष

उद्धत स्वभाव को लेकर तथा उनके एकान्त जीवन को लेकर काफ़ी ग़लतफ़हमियां लोगों को हैं यह हम जानते हैं। हम ज़ोर के साथ यह कह सकते हैं कि बात ऐसी नहीं है। ज़ोर के साथ इसलिये कि हमें उनके साथ रह पाने का और निकट से उनका चारित्रिक अध्ययन कर पाने का समुचित सुयोग मिला है। वाह्य रुक्षता के पीछे हमने उनका अत्यन्त कोमल रूप पाया है तथा उनकी एकान्त-प्रियता के पीछे भी कभी २ गम्भीर उत्तरदायित्व की झांकी देखी है। निराला ने आज तक कभी कठिन से कठिन अवसर पर भी अपने 'अहम्' का परित्याग नहीं किया है।

निराला की महानता का शब्द-चित्र लोगों के सामने रखना वैसा ही होगा जैसा विद्यार्थी के सामने माउंट एवरेस्ट का पेन्सिल-स्केच रखना। चित्र से उसकी महत्ता मानते हुए भी विद्यार्थी उसकी उच्चता के प्रति जिज्ञासु बना ही रहेगा। प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में चित्र से सन्तोष कर लिया जा सकता है—भगवान के अभाव में पाषाण-प्रतिमा के पूजन की तरह—किन्तु प्रत्यक्ष दर्शन की साध मिटती नहीं। निराला पर भी यह पूर्ण रूप से लागू होता है।

हिन्दी में दिवंगत प्रसाद को छोड़कर, जहाँ तक हम जानते हैं, शायद ही कोई कलाकार ऐसा रहा हो जिसे रोटियों की चिन्ता आजीवन न करनी पड़ी हो किन्तु निराला की यह चिन्ता कभी-कभी किस सीमा तक जा पहुँचती है, यह यहाँ बतलाने की बात नहीं। इतने पर भी हम उनसे सत्साहित्य-सृजन की आशा करते

हैं। अस्तु, धन में लोटनेवाले हृदय की मर्यादा और मूल्य नहीं जानते किन्तु हृदय की पूंजीवाले धन का भी उपयोग जानते हैं, यद्यपि धन को ही वे जीवन में सब कुछ मान लें, ऐसा नहीं है। निर्धनता के आवरण में दुबका हुआ निराला का जो शाही दिल है, अनुभूतिमय और उदार हृदय है वह कितने लक्ष्मीपतियों के पास है, यह हम नहीं जानते। हम यहाँ कुछ उदाहरण इस बात के देना चाहते हैं।

यह सभी जानते हैं कि निराला की धर्मपत्नी का देहांत, निराला जब लगभग २०-२२ वर्ष के थे तभी हो गया था। चिरंजीव का लालन-पालन नाना के यहाँ हुआ। विवाह का जब समय आया, प्रथानुसार तिलक-दहेज़ आदि भी तय किया गया और नाना के घरवालों ने रुपये का मुंह देख, जहाँ सबसे अधिक रुपए मिल रहे थे, संबंध पक्का कर लिया। इधर निराला ने संबंध एक ऐसे स्थान पर स्थिर कर लिया था जो लोग समय के फेर से आज अवश्य लड़की का विवाह करने तक की हैसियत नहीं रखते थे, किन्तु खानदान पुराना था, मान-प्रतिष्ठा वाले थे। निराला को जब रुपए के बल पर स्थिर संबंध का पता चला, उन्होंने वहां अपने पुत्र का विवाह करने से स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं, इस वर्णन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश यह है जब निराला उस ब्याह में वर-पक्ष की ओर से नहीं प्रत्युत कन्या-पक्ष की ओर से सम्मिलित होते हैं और कन्या के पिता के स्थान पर स्वयं ही उस ओर का भी समूचा व्यय उठाते हैं।

हम पूछते हैं, यह हृदय किस लक्ष्मी के कृपापात्र ने पाया है ? अपने इस कार्य द्वारा क्या निराला साधारण स्तर से ऊंचे नहीं उठे हैं ? यह उदाहरण उनके महत हृदय का एक अदना-सा प्रमाण है।

लखनऊ में एक बार कुछ साहित्यिक सज्जन किसी समारोह के लिए चन्दा उगाहने गए थे। यद्यपि निराला से इस उद्देश्य से मिलना वे नहीं चाहते थे फिर भी साहित्यिक के नाते वे निराला के मकान पर उनसे भेंट करने गए। निराला मिले, आने का कारण पूछा। जान लेने पर निराला ने टेंट से निकालकर २-३ रुपए उन सज्जनों को दिये। वे लोग बराबर कहते रहे कि आपके पास हम चन्दे के लिए नहीं आए किंतु हिंदी का काम था, निराला रुक कैसे सकते थे ? हम मानते हैं कि निराला के इस कार्य को लोग साधारण शिष्टता कहकर टाल दे सकते हैं किंतु इसे आप यों देखें कि वे २-३ रुपए वे ही थे जो निराला पिछले ३-४ दिनों से किसी तरह बचाते चले आ रहे थे, क्योंकि निकट भविष्य में भी कहीं से आने की सम्भावना नहीं थी।

रेडियो प्रकरण तो लोगों से आज छिपा नहीं। ऑल-इण्डिया रेडियो, दिल्ली और लखनऊ से 'माइक' पर हम सबने निराला की कविता का तथा उनके असाधारण स्वर-लालित्य का रसास्वादन किया है किंतु हममें से बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि किन परिस्थितियों में पड़ कर निराला ने रेडियो का 'ऑफ़र' स्वीकार किया। रेडियो अधिकारी ही इस बात को अपने यहाँ की

फ़ाइलें देख कर बतला सकते हैं कि कितने पत्र उनके, निराला के पास आये थे और कितनों का उत्तर तक उन्हें मिला। यह सभी जानते हैं कि हिन्दी में 'हाइएस्ट पेमेन्ट' निराला को ही हुआ था किन्तु आरम्भ में उनके अस्वीकार करने का कारण केवल रेडियो वालों की हिन्दी-सम्बन्धी नीति ही थी। हम यह पूछना चाहते हैं कि जिस समय सैद्धान्तिक कारणों से निराला ने वे 'ऑफ़र' अस्वीकार किये थे उस समय क्या उन्हें अपने 'हाइएस्ट पेमेंट' की बात मालूम नहीं थी? एक तरफ़ यह उदाराशयता थी और दूसरी ओर, हमें मालूम है कि, रेडियो के एक उच्च-अधिकारी के लखनऊ आने पर कुछ हिन्दी वालों की ओर से निराला के 'हाइएस्ट पेमेंट' के लिये शिकायत की गई थी। आप स्वयं समझ सकते हैं कि यहाँ महान कौन है? रुपये अधिक मिलने की बात जानते हुए भी किन्हीं कारणों से निमन्त्रण को ठुकरा देने वाला एक निर्धन कलाकार या उसके एक बार अधिक रुपयों पर निमन्त्रण स्वीकार कर लेने पर शिकायत करने वाले?

सेवा स्वयं अपना पुरस्कार है; हम तो यह जानते ही हैं, सम्भवतः निराला को भी यही सन्तोष बल देता जाता है। एक दिन आयेगा जब हम समझेंगे कि हमने इस उच्चात्मा-कलाकार को वह अर्घ्य नहीं दिया जो इसका पावना है।

कला-मन्दिर,

दारागंज, प्रयाग।

—उमाशंकरसिंह

निवेदन

'चाबुक' मेरे लेखों का तीसरा संग्रह है। अधिकांश लेख सन् '२३, '२४ के लिखे हुए हैं। 'चाबुक' शीर्षक से मैं एक दूसरे नाम से 'मतवाला' में व्याकरण पर आलोचनायें लिखा करता था। आलोचनायें यथार्थता लिए हुए जितनी भी हों, कटुता लिए हुए अवश्य थीं। आज जिन लेखकों और सम्पादकों पर मेरी श्रद्धा है, उन्हें, उस समय, मैंने अपनी यह श्रद्धा नहीं दी। मैं करबद्ध होकर कटुता से समालोचित पूज्य साहित्यिकों से क्षमा चाहता हूँ। उस कटुता को ज्यों का त्यों इसलिए जाने दे रहा हूँ कि देखूँ, अगर कुछ सत्य भी है तो वह कितनी कटुता हज़्म कर सकता है। मुझे विश्वास है, पढ़ने पर पाठकों का श्रम जिस तरह सूक्ष्मता-दर्शन से सार्थक होगा उसी तरह मेरे तत्कालीन मनोभाव और अज्ञता के परिचय से प्रफुल्ल।

मैं उमाशंकर सिंह जी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इनका संग्रह कर प्रकाशित किया है।

—निराला

स्वर्गीय

श्रीनवजादिकलाल श्रीवास्तव

की पुण्य-स्मृति में

क्रम

मौन कवि

'मिश्रबन्धु-विनोद' में इन भौन कवि का ज़िक्र है या नहीं, नहीं मालूम·········भौन की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई········ यहाँ कुछ रचनाएँ भौन की देता हूँ।"

गर्मियों में प्राय: डेढ़ महीना (मुझे) डलमऊ रहना पड़ा। डलमऊ रायबरेली-ज़िले का एक सब-डिवीज़न है, मेरी ससुराल। पहाड़ जाने की अक्षमता ने ससुराल की ओर मुँह फेरा। कई साल नहीं गया था। फलत: तीसरे दिन लौटने की नौबत नहीं आई। पहले का कुछ त्याग भी था। ससुरजी आधा हिस्सा अपनी बेटी को दे रहे थे—मैंने नहीं लेने दिया, कहा, 'एक तरफ़ बाप का आधा हिस्सा है, दूसरी तरफ़ पूरा मैं, एक लो।' श्रीमतीजी ने मुझे ही पसंद किया। एक कारण और है; मैंने श्रीमतीजी की ख़ाली जगह नहीं भरी, प्राय: बीस साल हुए, इसलिये सासुजी मुझे अपनी बेटी समझती हैं, और सलहज साहिबा, ननद। बड़े आनंद से रहा। काफ़ी पोइट्री (कविता) मिली। दोनों वक्त गंगा नहाना, डटकर भोजन करना, एक वक्त कसरत, फ़ालतू समय सलहज साहिबा से ब्रजभाषा-काव्यालाप। सलहज साहिबा छोटी हैं, पद में, यों कई बच्चे की मा हैं; घूंघट काढ़ती हैं; लेकिन छायावाद लिखते-लिखते मश्क़ ऐसी बढ़ी है कि झीने घूंघट के भीतर उनके सुंदर मुख की छाँह मेरी निगाह में साफ़ रंग, रेखा, भाव और ज्योति लिए प्रतीत होती थी। वह समझती थीं—मैं पर्दे में हूँ, मैं समझता था—मैं मज़े में देख रहा हूँ।

फ़ैज़ाबाद में लेक्चर्स थे, नहीं गया। कई जगह कवि-सम्मेलन का सभापतित्व था, लिखा—इलाज करा रहा हूँ। कई जगहों से वैवाहिक निमन्त्रण आए, लिख दिया—अब विवाह में मैं नहीं जाता, मुझे माया-

वेश होता है। संपादकों ने रचनाएँ माँगीं, समझा दिया लिखकर, बिहारी का है, किसका है वह बादवाला टुकड़ा---जगत तपोवनमय किया।

घर में जैसा आनंद, बाहर भी वैसा ही। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी पं० गिरिजादत्तजी त्रिपाठी के यहाँ गीतवाद्य लगा ही हुआ। देश-भर के गुणी आते-जाते हैं, कभी अच्छन गए, तो कभी नौरंग। बटमार तो रोज दो-चार पहुँचते हैं, जिन्हें रास्ता चलते आटा-दाल की ज़रूरत होती है। ज्योतिषीजी और उनके छोटे भाई वैद्यरत्नजी (संभू महाराज) बड़ी पैनी निगाह के आदमी, साथ ऊँचे दर्जे के सभ्य, देहात में जैसे व्यक्ति अलभ्य कहे जाते हैं। सबकी इज़्ज़त, सबकी प्रशंसा करने वाले। मेरी शादी पंडितजी के पूज्य पिताजी ने तय की थी, ज्योतिष-शास्त्रानुसार, यद्यपि नहीं बनती थी---मैं मंगली था, फिर भी वह वहाँ के बृहस्पति थे--- उन पर सबकी श्रद्धा थी, न जाने किस तरह बनाकर मेरे ससुरजी को विवाह करने के लिये समझाया, मेरे पिताजी ने भी उनकी ख़ुशामद की होगी-संदेह नहीं, कारण मेरे ससुरजी की लड़की उनकी पुत्रवधू हो-कई साल से उनका ध्यान था; मैं जानता था। अस्तु। तब से इन ज्योतिषी-परिवार पर मेरी बड़ी श्रद्धा है। ये लोग मुझे कुल-कमल कहते हैं। सुनने में मुझे बुरा नहीं मालूम देता। प्रायः उनके यहाँ जाया करता था। देर हो जाती थी, तो संभू महाराज बुला भेजते थे। दो बजे से छ बजे तक ताश होते थे; ब्रिज नहीं, न टुएंटी नाइन---न लिट्रेचर---न ब्लैक कुइन---न रम्मू; बस सात हाथ। ठंढाई और गंगा-स्नान के बाद कसरत और फिर संगीत। प्रातःकाल गोश्त पकाने में व्यतीत होता था, या किसी कवि या विद्वान् की किताबी प्रतिभा में।

आनंद का आकर्षण जबर्दस्त होता है। मैरिस कॉलेज, लखनऊ, के मृदंगाचार्य पं० सखारामजी रह नहीं सके, डलमऊ आए; मुझे स्नेह करते हैं, चि० रामकृष्ण उनका शिष्य है, यद्यपि उसके साथ एक बार आ चुके थे, फिर भी, इस बार मेरे मुख से ग्रीष्म की शीर्ण स्वच्छतोया प्रखरा गंगा का माहात्म्य सुना था, लखनऊ में जब मैं था, और साथ-साथ मेरे ससुराल के संबंध में अतिशयोक्ति-अलंकार; जिसमें घन-वृक्ष-पत्रच्छायाच्युतरश्मिलेखा शीत-संकेत-सलिला डलमऊ की प्रभातवेला की वर्णना थी, पर धूल और बालू से धुआँधार गरमी की दुपहर का ज़िक्र न था। स्वप्न ज्योत्स्नामयी विमला क्षण-कल्प तरला पश्चिम-समीर-शीतला रात्रि का वर्णन तो था, पर मच्छड़ों के अविराम भनभनाने और काटते रहने की बात न थी। पंडित सखारामजी ३-४ दिन रहकर चलते समय मुस्किराते हुए बोले, वास्तव में बड़ा आनंद आया।

एक दिन दोपहर को बेंती चलने की बात हुई, नाव से। डलमऊ से पाँच मील पूरब है। पहले मंभू महाराज से भौन कवि के कवित्त सुन चुका था। यह भी मालूम कर चुका था कि भौन बेंती के थे। पहले मेरी स्त्री की एक महाराजिन गार्जिअन थी, वह बेंती की थी, इसलिये बेंती में कविता विशेष मिली; मैं चलने को राज़ी हो गया। हम लोग चले। नाव पर पंडित गिरिजादत्तजी, मंभू महाराज, मुन्नू बाबू, पंडित गिरिजादत्तजी के एक रिश्तेदार और मैं। तरह-तरह की बातें होती रहीं, भौन कवि के संबंध में ख़ास तौर से। पंडितजी बंदूक़ लिए हुए थे। घड़ियाल देखते जाते थे। एक बड़ा कछुआ किनारे से कूदा। घड़ियाल की माँद ख़ाली थी। अमरूद के बगीचे मिले, मैं कई बार

वहाँ जा चुका था। एक रेती पर कुछ चिड़ियाँ बैठी थीं, दरियाई। इच्छा हुई कि कहूँ—एक फ़ायर कीजिए। पर रुक गया। पंडितजी मारते हैं, खाते नहीं।

बेंती आई। एक कुत्ता मिला, पागल पागलसा। पंडितजी ने बंदूक दिखाई, तो वह दुम हिलाने लगा। गांव का था। गाँव जाते देखा, तो वह भी साथ हो लिया। जिसके नजदीक होता, वही कसौली सोचकर घबराता, ढेले उठाकर मारता। कुत्ता मुँह बनाकर सहृदय पथिक को देखता। न लोगों का डरना, भगना और ढेले चलाना छूटा, न कुत्ते का पीछा करना। तब तक बात हो गई थी कि पागल कुत्ता पीछे से काटता है।

बेंती आई। छोटा गाँव, ऊँचे कगार पर बसा है। सामने गंगा। बगल से रास्ता। हम लोग चढ़े। कुआँ मिला। घड़े भरे एक स्त्री। पं० गिरिजादत्तजी ने कार्य-सिद्धि का कोई मंत्र पढ़ा। मैंने मन में कहा, 'पहले कुत्ता मिला है, तब यह कुछ नहीं बोले, देखा जाय क्या होता है।'

भीतर हम लोग एक कान्यकुब्ज कुलीन श्रीमान् के यहाँ गए। पंडितजी ने उन्हें पूछा नौकरों से, तब तक वह स्वयं अपने रब्बे पर कहीं से आ गए। बातचीत होने लगी। पंडितजी परिचित थे, हम लोग अपरिचित। परिचय हुआ। पंडितजी ने मेरे लिये कई 'तम' एक वाक्य में जोड़े। कान्यकुब्ज महाशय भी एक 'तम' थे। साम्य की प्रिय भावना से मुझे देखा। फिर बातचीत होने लगी वैवाहिक। अब मैं वहाँ जाने का कारण समझा। उठकर मुन्नू बाबू के साथ मौन कवि का भवन

देखने चला। उस समय कान्यकुब्ज महाशय आस्पद, घर, आँक, शिखा-सूत्र न-जाने क्या-क्या पूछ-पूछकर लिख रहे थे। देख-दाखकर हम लोग लौट आए। फिर सबके साथ नाव की ओर चले।

कुछ दिन बाद मालूम हुआ, भरे घड़े की अपेक्षा कुत्तेवाला प्रभाव बलवान् हुआ।

भौन कवि नरहरि कवि के वंशज हैं, सेवक के ख़ानदानी। नरहरि पहले बेंती के रहनेवाले थे, फिर असनी में बसे थे। भौन गौरा-नरेश भूपालसिंह के समय थे। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इन भौन कवि का जिक्र है या नहीं, नहीं मालूम; जहाँ तक स्मरण है, एक दूसरे 'भौन' का जिक्र है। 'भौन' ब्रह्मभट्ट थे। इनके पुत्र, दीनदयाल 'दयाल' कवि थे। भौन की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई, पूछने पर मंभू महाराज से मुझे ऐसा ही मालूम हुआ। यहाँ कुछ रचनाएँ भौन की देता हूँ। ये मंभू महाराज को याद थीं, मैंने लिख लीं। भौन में अच्छा कवित्व मालूम दिया। दयाल पिता के-जैसे नहीं।

भौन की रचनाएँ :—

(१)

चूँ-चूँ करैं चहुँओरन ते
झकझोर करैं बड़े भोर ते जागैं;
ग्राम के खैंड़, अराम के पेड़,
रहीं झुकि मेंड़ में मूज की मागैं।
टूटि गए गोफना के फना,
करतारी बजाए भगाए न भागैं;

पार न पावैं गलारन ते,
यहि हार में हुर्रा हजारन लागैं।

यह सुंदर रचना है। इससे भौन की काव्य-प्रतिभा का पता चलता है।

(२)

मुसका बँधावैं, बैल चुसका न पावैं,
घास-भुसका रखावैं, कहैं यही काम आवैगो;
फरुहा कुदारी दारी खुरपी न आवै खेत,
हर की नमी ते जोर जर को बचावैगो।
भौन कवि कहै हाँकी हाँका ते चराये केत,
जंगल के बीच में कहाँ लौ कौन धावैगो;
जैसी ये जमीन भौन पाई बदंहा के बीच,
तैसी कविराज कहूँ पाई है, न पावैगो।

(३)

त्रेता में न उठी औ न द्वापर में जोती गई,
आनि कलिकाल में बटाई भई दाना की;
जामि के जबास औ जरैला जर कसि रहे,
नारे के किनारे कुसी कास हरिआना की।
भौन कबि कहै हेरि फेरि के बतावैं वहै,
ऐसे महापातकी न मानै दाब राना की;
आप तो लिखी है ठीक दुई की सनद, पर
इलति इलाकेदार देत चारि आना की।

(४)

जैहैं फूटि फूट-सी तमाम तोप तोड़वाली,
कूटि जैहैं काबिल कमाल फौज बाना ते,
टूटि जैहै देस को दिमाग, जोर छूटि जैहै,
लूटि जैहै लाखन को माल तोसखाना ते।
भौन कबि कहत खोदाय की खबरि करौ,
पीछे पछतावगे खराब खूब खाना ते;
बैरिन की बनिता सिखावतीं एकंत, कंत,
कीजिए न रारि बेनीमाधौबक्स राना ते।

(५)

भौन भौन छोड़ैं नहीं, गौरापति की आस ;
बहु नरेस यहि देस में जात न काहू पास ।

(६)

दीरघ दुकूल धरे देवता बजाज बैठे,
पय को पसार पुन्य पूरो रोजगार है;
सेत-सेत रेत रूप-रासि पै सराफ साफ
सवदा के लेत ही सुखद अलगार है।
भौन कबि कहै सोर बनिक बिहंगन को
बाजत मृदंगन तरंगन को तार है;
सूझत न वारपार करै को बिचार सार,
कैधों गंग-धार कैधौं मुक्ति को बजार है।

(७)

ऐसे महापातकी प्रसिद्ध पुहुमी में जिन
　　बालपन ही ते काम कीनों है अधम के;
पुन्य को न लेस औ पुनीत ना पुरातम के,
　　पूरित परे रहे प्रबेस तेह तम के।
भौन कवि कहै भागीरथी के समीप आय
　　भटकैं न काहू लखि कौतुक भरम के;
रहे जात कागद करम के न कहे जात,
　　बहे जात बारि में, न गहे जात जम के।

कविवर विहारी
और
कवीन्द्र रवीन्द्र

'विहारी महाकवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु रवीन्द्रनाथ केवल भारत के नहीं, संसार के एक महाकवि हैं। .... विहारी की प्रतिभा हिन्दी ही के हावभावों को मुग्ध करती है; रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा संसार भरके भाव सौन्दर्य को चमत्कृत करती है।'

यह छोटा सा लेख इस उद्देश्य से नहीं लिखा जा रहा कि तराजू के एक पलड़े पर बिहारी और दूसरे पर रवीन्द्रनाथ को बैठाकर दोनों कवियों की कवि प्रतिभा तौली जाय। बिहारी महाकवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु रवीन्द्रनाथ केवल भारत के नहीं, संसार के एक महाकवि हैं। बिहारी के काव्यविवेक में उतनी नवीनता नहीं जितनी रवीन्द्रनाथ के कविता में है। बिहारी ने किसी नये छन्द का आविष्कार नहीं किया, कोई ऐसा अनूठा भाव नहीं दिखलाया जिसे अपनाने के लिए संसार भरके मनुष्यों को लालच हो। रवीन्द्रनाथ में ऐसे एक नहीं, अनेक छन्द हैं—अनेक भाव हैं! बिहारी के काव्यक्षेत्र से रवीन्द्रनाथ का काव्यक्षेत्र बहुत प्रशस्त है—बहुत विस्तृत है। बिहारी की प्रतिभा हिन्दी ही के हावभावों को मुग्ध करती है; रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा संसार भरके भाव सौन्दर्य को चमत्कृत करती है। दोनों में बड़ा अन्तर है। सम्भव है, यदि बिहारी रवीन्द्रनाथ के समय के कवि होते तो उनके काव्यों में भी विश्वभाव के संगीत सुन पड़ते। परन्तु जो नहीं हुआ और नहीं मिलता, उसके लिये न सम्भावना बतलाने की आवश्यकता है, न उसकी प्राप्ति के लिए समर्थन करने की ज़रूरत है। बिहारी के आने से हिन्दी में किसी नवीन युगका आविर्भाव नहीं हुआ, परन्तु रवीन्द्रनाथ युग प्रवर्त्तक हैं। अस्तु, अब दोनों के शृंगार-चित्रण के चमत्कार देखिये। पाठकों के मनोविनोद के लिए कुछ पद्य हम उद्धृत करते हैं।

इससे पहले हम इतना और कह देना चाहते हैं कि हिन्दी की प्राचीन प्रथाके अनुसार बिहारी ने किसी एक भाव को एक ही दोहे में समाप्त कर दिया है, परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों का तार पद्य के कुल लड़ियों के समाप्त न होने तक बंधा रहता है। यों तो पढ़ने में कितने ही भावों का समावेश जान पड़ता है, परन्तु उनमें भी एक पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है। दूसरी बात यह है कि बिहारी नायिका भेद बतलाते हैं; परन्तु रवीन्द्रनाथ स्त्रियों के स्वभाव का चित्रण करते हैं। बिहारी के भावों से विकार पैदा हो सकता है परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों में वह बात नहीं, उनके भावों से केवल अनुराग ही बढ़ता है।

अच्छा, लज्जा पर बिहारीलाल और रवीन्द्रनाथ दोनों की कुछ उक्तियां देखिये—

"लखि दौरत पिय-कर-कटक, बास छुड़ावन काज।
बरुनी-बन दृग-गढ़नि में रही गुढ़ौ करि लाज॥"

—बिहारी।

टीकाकार पं० पद्मसिंहजी लिखते हैं—"रति के समय नायक ने नायिका के अंग से वस्त्र उतारने को हाथ बढ़ाया है। लज्जा ने देखा कि अब खैर नहीं; यह स्थान भी छिना! सो वह बेचारी आँखों के किलेमें, जिसपर बरौनी का बन छाया हुआ है, आ छिपी है।"

हम इसका ध्वन्यात्मक अर्थ स्वयं न लिखकर टीकाकार के अर्थ का ही अंश उद्धृत किये देते हैं—"नायिका के सारे शरीर-देश पर लज्जारानी का राज्य था। सो उसपर ग़नीम (नायक) ने बाह्य रति-

संगर में अपना अधिकार कर लिया। वहाँ से लज्जा की अमलदारी उठ गई। केवल उसका निवास "पट-मण्डप" में—साड़ी की छोलदारी में रह गया था। बेचारी वस्त्र के नीचे जैसे तैसे आपा छिपाये छिपी पड़ी थी, उसने देखा कि अब उसे छीनने को भी कर-कटक-दस्तराज़ी का लश्कर बढ़ा आ रहा है, अब यहाँ भी रक्षा नहीं सो वह वस्त्ररूपी वासस्थानको छोड़ कर आँख के सुदृढ़ गढ़ में जाकर छिप गयी। कुल-बाला की आँख, लज्जा का प्रधान स्थिति-स्थान है, वहाँ से उसे हटाना ज़रा टेढ़ी खीर है!"

कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ की लज्जा दूसरे ही ढंग से व्यक्त होती है इसलिये लज्जाविषयक एक ही ढंग का उदाहरण हम नहीं दे सकते। रवीन्द्रनाथ की नायिका कुरूपा है! रूप न होने पर भी वह अपने प्रियतम को गुप्त भाव से प्यार करती है। उसी की उक्ति है:—

जार नवीन सकुमार कपोलतल
कि शोभा पाय प्रेम लाजेगो!
जाहार ढलढल नयन शतदल
तारेइ आँखी जल साजेगो!
ताई लुकाये थाकी सदा पाछे से देखे,
भालो बासिते मरी सरमे।
रुधिया मनोद्वार प्रेमेर कारागार
रचेछि आपनार मरमे।"

कुरूपा नायिका आक्षेप कर रही है। प्रियतम से मिलने की उसे कोई आशा नहीं। परन्तु वह प्रेम नहीं छोड़ सकती। कहती है—

"जिसके कपोलतल नवीन और सुकुमार हैं, प्रेम की लज्जा से उसकी कितनी न शोभा होती होगी। जिसके नयन शत-दल डबडबाये हुये ही बने रहते हैं, आँसू बस उसे ही सजते हैं। वह मुझे कहीं देख न ले, इस भय से मैं सदा छिपी रहती हूँ। प्यार करने को (क्या कहूँ) लज्जा से ही मरी रहती हूँ। 'मनका द्वार बन्द करके, मैंने अपने मर्म के ही भीतर प्रेमका कारागार रचा है।"

बिहारी जो कुछ कह जाते हैं, उसमें कहने को कुछ बाकी नहीं रखते। परन्तु रवीन्द्रनाथ जहाँ अपनी अक्षमता बतलाते हैं वहाँ पढ़नेवाले भी समझते हैं कि यह भावका समुद्र शब्दों के बाँध से नहीं बँध सका। बिहारी के दोहे के समाप्त होने के साथ ही उनका भाव भी समाप्त हो जाता है, पाठकों के लिए कुछ सोचने की बात नहीं रह जाती, कोई भाव कुछ देर के लिये अपना प्रभाव नहीं छोड़ जाता। परन्तु रवीन्द्रनाथ का संगीत समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक कानों में उसका स्वर बजता रहता है। बिहारी की नायिका आँखों के किले में छिप गई। तो फिर क्या हुआ? बस एक सुन्दर चित्र आँखों के सामने आया और अलग हो गया। परन्तु रवीन्द्रनाथ की नायिका हृदय में कारागार रचती है। और वहीं अपने प्रियतम को कैद कर रखती है। यह ध्वनि आप गूंजती है, इसकी झनकार कवि की अंगुलियों से नहीं होती। एक बात और "तन्त्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग। अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।" यह गुण बिहारी में नहीं, यह रवीन्द्रनाथ में पाया जाता है। बिहारी तटस्थ रहते हैं, रवीन्द्रनाथ डूब जाते हैं, बिहारी को सदा अपने कवि

होने का ज्ञान बना रहता है-विहारी खुद नायिका नहीं बन जाते। परन्तु रवीन्द्रनाथ स्वयं नायिका बन जाते हैं। इसलिए कविता और खिल पड़ती है। विहारी चित्रण कुशलता दिखाने की फ़िक्र में रहते हैं, परन्तु रवीन्द्रनाथ अपने विषय से मिल जाते हैं, इसीलिये जब आगे अथाह भाव उमड़ पड़ता है तब तल्लीन कवि केवल भाव ही देखता रह जाता है, और जो कुछ थोड़ा सा लिख जाता है, बस उतने ही से पाठक भाव महोदधि का उच्छ्वास समझ जाते हैं!

दीप उजेरेहू पतिहिं हरत बसन रति काज।
रही लपटि छवि की छुटनि नैको छुटी न लाज॥

—विहारी।

"दीप के प्रकाश में, वस्त्र हर लेने पर भी, लज्जा न छूट सकी, निरावरण-काय-कान्ति की छुटा ऐसी छा गयी कि उसने अनावृत अंग को ढाँप लिया! कांति की छुटा ही दीखती है उसकी चकाचौंध में शरीर नज़र नहीं आता!

—पद्मसिंह शर्म्मा।

कुछ विहारी की कल्पना है, उसपर पद्मसिंह जी भी कल्पना लड़ाते हैं। बहुत जगह चमत्कार पैदा करने में विहारी से जो कुछ कोर-कसर रह जाती है उसे पद्मसिंह जी पूरा कर देते हैं। ख़ैर। अब रवीन्द्रनाथ की कुछ उक्तियाँ देखिये:—

"भेबे देखो आनियाछो मोरे कोन खाने!
शत शत आँखीभरा कौतुक-कठिन धरा
चेये रबे अनावृत कलंकेर पाने!"

नायिका अपने नायक से कहती है—"तुम मुझे कहाँ ले आये हो, ज़रा सोचो तो सही। यह कौतुक-कठोर संसार की करोड़ों आँखें मेरे अनावृत कलंक की ओर हेरती रहेंगी!"

"भालोबासा ताओ यदि फिरे नेबे शेषे,
केन लज्जा केड़े निले, एकाकिनी छेड़े दिले,
विशाल भवेर माझे विवसना-वेशे ?"

"एकमात्र प्यार रह गया था, वह भी अन्त में यदि वापस लेना था तो तुमने मेरी लज्जा क्यों छीनी? इस विशाल संसार में मुझे अकेली और विवस्त्रा कर के छोड़ दिया।"

"भांगिया देखिले छि छि नारीर हृदय,
लाजे भये थरथर भालोबासा सकातर
तार लुकावार ठाइँ काड़िले निदय।
नितान्त व्यथार व्यथी भालोबासा दिये
सजतने चिरकाल रचि दिबे अन्तराल,
नग्न करे छिनु प्राण सेई आशा निये।
मुख फिरातेछो सखा आज कि बोलिया!
भूल करे एसे छिले? भूले भालोबेसेछिले?
भूल भेंगे गेछे ताइ जेतेछो चलिया?

—रवीन्द्रनाथ।

"छीः नारी हृदय को तुमने देखा भी तो उसे तोड़कर देखा! निर्दय! जो लज्जा और भयसे काँप रही थी, प्यार के लिये ही जिसकी करुणा उमड़ चली थी, उसके छिपने की जगह भी तुमने छीन ली।

"मैंने सोचा था, तुम सहृदय हो; अपने प्रेम और यत्न से मेरे लिए चिरकाल तक रहने का एक अन्तराल (गुप्त जगह) रच दोगे। इसी आशा से मैंने (तुम्हारे सामने) अपने प्राणों को नग्न कर दिया था।

"प्रिय ! आज इस तरह मुंह फेर रहे हो ? क्या ? तुम आये थे तो कोई भूल की थी ? प्यार किया, वह भी भूल ही थी ? अब अपनी भूल समझ गये इसीलिये चले जा रहे हो ?

छुटै न लाज न लालचो प्यो लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥

—विहारी।

"नायिका पीहर में है, वहीं नायकदेव पधारे हैं, नायिका मिलना चाहती है, पर नहीं मिल सकती। उसकी आँखों में प्रिय से मिलने का लालच और पीहर की लाज दोनों बराबर भरे हैं। न वह लालच ही छूटता है न यह लाज ही छूटती है और न इस दशा में व्याकुलता ही कम होती है।"

—पद्मसिंह शर्म्मा।

"भवे प्रेमेर आँखीं प्रेम काड़िते चाहे
मोहन रूप ताइ धरिछे।
आमी जे आपनाय फुटाते पारी नाइ
परान कँदे ताइ मरिछे।"

—रवीन्द्रनाथ।

"संसार में प्रेमकी आँखे प्रेम छीन लेना चाहती हैं। इसीलिये वे मोहन रूप धारण कर रही हैं। परन्तु हाय ! मैं तो अपने को खिला

नहीं सकी ! मेरा जी यही सोच सोच कर रो रहा है।"

रवीन्द्रनाथ की नायिका अपने ही प्रियतम की आँखें नहीं देखती वह संसार भर की आँखों को प्रेम की कसौटी में कस रही है। वह सभी आँखों में प्रेम छीन लेने की चाह देखती है। इस चाह से संसार की आँखों में सुकुमार सौन्दर्य की कैसी झलक आ जाती है, प्यार करने वालों का स्वरूप किस तरह विकसित हो जाता है, इसे भी वह ध्यानपूर्वक देख रही है। परन्तु अपने भाव-सौन्दर्य का उसे ज्ञान नहीं है। वह अपने को कुरूपा समझती है। इसका कारण वह यह बतलाती है कि मैं अपने को खिला नहीं सकी। यहाँ रवीन्द्रनाथ दर्शन की युक्ति से भी नायिका के वाक्य की पुष्टि कर रहे हैं। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है, उसका चित्र उतना ही सुन्दर होता है। सौन्दर्य की ही कल्पना को लोग ललित कला का मुख्य आधार कहते हैं। यही बात मनुष्य के स्वरूप के लिए भी संघटित होती है। गत जन्म में जीव में सौन्दर्य की जैसी कल्पना थी, इस जन्म में उसे वैसा ही रूप मिला है। असभ्य जातियों में ललित कल्पना का अभाव है इसीलिए वे कुरूप होते हैं। रवीन्द्रनाथ की नायिका सौन्दर्य कल्पना की कमजोरियों के लिये ही आक्षेप करती हुई कहती है, 'मैं अपने को खिला नहीं सकी' थोड़े ही शब्दों में भाव कितने गम्भीर और ललित हैं।

दूसरी ख़ूबी रवीन्द्रनाथ में यह है कि उनकी नायिका को संसार के सब देशों के मनुष्य अपनी नायिका समझेंगे। कितनी ही जगह

बंगबालाओं का चित्रण करने के कारण रवीन्द्रनाथ की कविता में प्रांतीयता आ गई है। परन्तु कहीं न कहीं, वहाँ भी कवि की वीणा से विश्वभाव के संगीत निकल जाते हैं।

पति रति की बतियाँ कही सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥

—विहारी।

"नायिका के पास कुछ सखियाँ बैठी इधर उधर की बातें कर रहीं थीं। नायक ने वहाँ पहुँच कर नायिका से चुपके से एक गुप्त प्रस्ताव कर दिया, जिसका भाव समझ कर चतुर सखियाँ बहाने बना बना कर वहाँ से उठ खड़ी हुईं, मकान खाली कर गयीं।

—पद्मसिंह शर्म्मा।

ऐसे उक्तियों में विकार की मात्रा आवश्यकता से अधिक है। पतिदेव थोड़ी देर के लिए भी धैर्य नहीं रख सके। दूसरों की स्त्रियों के बीच में कूद पड़े और अपनी (urgent) प्रार्थना सुना दी। समझ में नहीं आता इसमें कौन सा चमत्कार है। यहीं एक बात देख पड़ती है कि अनंग की तरंग में पतिदेव और पत्नीदेवी के साथ साथ, (कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय) सखियाँ भी बह जाती हैं।

इस तरह का विकार रवीन्द्रनाथ की कविता में नहीं आने पाता:—

तव अवगुण्ठन खानी
आमी केड़े रेखे छिनु टानी,

आमी केड़े रेखे छिनु वक्ष तोमार
कमल-कोमल पाणी ।
भावे निमीलित तव नयन युगल
मुखे नाहीं छिलो वाणी ।
आमी शिथिल करिया पाश
खुले दिये छिनु केशराश,
तव आनमित मुखखानी
सुखे थुयेछिनु बुके आनी
तुमी सकल सोहाग सयेछिले सखि,
हासी-मुकुलित मुखे ॥

"मैंने तुम्हारा घूँघट खोल डाला था। कमल के सदृश तुम्हारा कोमल हाथ तुमसे छीन कर अपने हृदय में रख लिया था। भावावेश में तुम्हारी अधखिली आंखों की कैसी शोभा थी। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला था। फिर बन्धन शिथिल करके, मैंने तुम्हारी केशराशि खोली थी। तुम्हारे नत मस्तक को अपने हृदय में रख लिया था। सखि! ये सुहाग सहते हुए भी तुम्हारा मुख हास्य मुकुलित (हँसी से खिला हुआ) था।"

देखिये, प्रेम का चित्र खिंच जाता है। कहीं विकार का नाम तक नहीं।

सकुच सुरत आरम्भ ही बिछुरी लाज लजाय।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आय ॥

—बिहारी।

"सुरत के आरम्भ में ही नायिका का संकोच भाव मानों लज्जा से

लजाकर विदा हो गया। लज्जा भी लज्जित होकर चलती बनी ! और ढीठ जो ढिठाई है, सो आकर अच्छी तरह प्रसन्न होकर, सरक कर समीप आ गयी ! लज्जा के दूर होते ही ढिठाई पास सरक आई।"

—पद्मसिंह शर्म्मा।

दुटी रिक्त हस्त सुधू आलिंगने भरी
कण्ठे जड़ाइया दाव,—मृणाल परशे
रोमांच अंकुरि उठे मर्मान्त हरषे,—
कम्पित चञ्चल वक्ष, चक्षु छल छल
मुग्ध तनु मरि जाय, अन्तर केवल
अंगेर सीमान्त प्रान्ते उद्भासिया उठे
एखनि इन्द्रिय-बन्ध बुझी टूटे टूटे!

···अयि प्रिया।

चुम्बन मागिवो जबे ईषत् हासिया
बांकायो न ग्रीवाखानी, फिरायो ना मुख,
उज्ज्वल रक्तिम वर्ण सुधापूर्ण सुख
रेखो ओष्ठाधर-पुटे, भक्त-भृंग तरे
सम्पूर्ण चुम्बन एक हासी-स्तरेस्तरे
सरस सुन्दर·····························"

—रवीन्द्रनाथ।

"मुझे अपनी बाहों में भर लो ! तुम्हारे निराभरण बाहुओं के छू जाने पर, मुझे इतना हर्ष होगा कि मेरे रोमांचों में सजीविता आ जायगी, वे अंकुरित हो उठेंगे। तुम्हारा कम्पित हृदय, छलछलाई

आँखें और अनुराग मुग्ध शरीर ! अंगों के सीमान्त-प्रदेश में एक मात्र तुम्हारा अन्तर उद्भासित होता रहे, जिसे देखकर इन्द्रियों के बन्धन शिथिल पड़ जाँय, यही अनुभव हो कि अब इन्द्रियों के बन्धन टूटते ही हैं। प्रिये, जब जरा मुसकराकर मैं चुम्बन माँगूगा तब अपनी ग्रीवा न मरोरना, मुंह न फेर लेना, अरुणोज्वल ओष्ठाधरों में वही सुख जिसमें सुधा परिपूर्ण है, रख छोड़ना और अपने भक्त-भृंग के लिये रखना हास्य की सरस और सुन्दर हिलोरों से भरा एक सम्पूर्ण चुम्बन !"

पाठक ! देखी आपने कल्पना की उड़ान और चित्र-चित्रण ?

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

"वाजपेयी जी नई आलोचना शैली को जीवन देते हुए उसे इस तरह आगे बढ़ाते हैं कि हिन्दी के अपर मौलिक साहित्य के उज्ज वन की तरह आलोचना भी अपने सच्चे अस्तित्व को आँखों से देखती है, अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होकर साँस लेती है।"

ईसवी सन् १९२८ का शरत्काल; ज्वार और बाजरे के पेड़ों की बाढ़ प्रायः पूरी हो चुकी है। कोई-कोई पेड़ गभुवारे; बाली और भुट्टे फुनगी के पत्तों में छिपे हुए। किसी किसी ने सुन्दरी बहू की तरह थोड़ा सा घूंघट उठाकर पृथ्वी पर परिचय की दृष्टि डाली है। वर्षा का वेग मन्द; शीत के आगमन की सूचना मज़े में मिल रही है। सारी प्रकृति एक स्तब्धता धारण किये हुए। बरसाती नदियों का पानी काफ़ी घट गया है। किनारों के कास फूले हुए हवा में झूम झूम जाते हैं। बागों में घास कमर तक, कहीं कहीं छाती तक आ गई है; भंजूर और जनेवा की सुगन्ध धरमपुर और शिमले की याद दिलाती है। किसान बड़ी लगन से हल चला रहे हैं। रबी की फ़स्ल बोने का समय आ गया है। सुबह की साधारण-ओस-पड़ी घासों से आती स्निग्धता फूलित रंग-बिरंगी किरनें, चिड़ियों की चहक, जंगली फूलों की सुगन्ध, हल की मूठ पकड़े पाटे लगाते किसानों की तेजी, मन की एक नयी आँख खोल देती दिल में एक दूसरी ला देती है; शाम की स्तब्धता शरत् की शुभ शांति का चित्र खींच देती है। मृत्यु के बाद के नये जीवन की तरह काम की नई सूरत सामने आती है। इस स्तब्धता से जैसे कुल विरोध दबकर मर जाता है और रचना की नवीनता अपनी जीवन-दायिनी कला से चपल हो उठती है। गाँव में हूँ, एकाएक श्री नन्द दुलारे वाजपेयी का हिन्दू विश्वविद्यालय से पत्र मिला, हमारे यहां हिंदी परिषद में रहस्यवाद और छायावाद पर व्याख्यान दीजिये। श्री नन्द दुलारे वाजपेयी

इस परिषद के उपसभापति, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय जी सभापति और श्री सोहनलाल द्विवेदी सेक्रेटरी थे। एक ही भाषण अब तक मैंने दिया था, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता में। सभापति महामना मालवीय जी थे। श्री जे० एल० बनर्जी के हिंदी-विरोधी धारा प्रवाह अंगरेजी भाषण के जवाब में बोला था। पूज्य मालवीय जी, जनमंडली तथा मित्रों से तारीफ़ पा चुका था, डर छुट चुका था। मैंने वाजपेयी जी का आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

उन दिनों छायावाद की जोरों से मुख़ालिफ़त थी, आज के प्रगति-वाद की जैसी। प्रगतिवाद संघबद्ध साहित्यिक प्रचेष्टा है, छायावाद इने-गिने साहित्यिकों का प्रयत्न था। हिन्दू विश्व-विद्यालय के छात्र, अध्यापक तथा काशी के साहित्यिक इस व्याख्यान के सुनने के लिए बड़े उत्सुक हुए। हर निगाह में, मुझे आग्रह दिखा। काशी चलकर मैं वाजपेयी जी के यहाँ ठहरा। वाजपेयी जी आर्य-भवन में रहते थे। पहले दो-एक बार उन्हें देख चुका था, खत-किताबत जारी हो चुकी थी, अब नज़दीक से अच्छी तरह देखने का मौक़ा मिला। गोरा रंग, बड़ी बड़ी आंखें, साधारण क़द, स्वस्थ देह, स्वच्छ खादी के वस्त्र; स्वाभाविक प्रसन्नता, पास रहने वालों को खुश कर देने वाली शालीनता तथा संयत भाषा, हृदय पर मधुर मुहर छोड़ती हुई, जो प्रायः नहीं मिटती। आर्य-भवन हिंदू विश्व-विद्यालय के बड़े बड़े छात्रावासों से दूर एकांत में है, हरि-याली के बीच में एक तरफ़ अमरूदों का बग़ीचा, एक तरफ़ खेत जो उस समय बाजरे से लहरा रहा था। सामने, कुछ ही दूर चलने पर

सड़क; आगे महिलाओं का छात्रावास। वाजपेयी जी उस समय एम० ए० फाइनल में थे। और भी कई लड़के आर्य-भवन में रहते थे। दूसरे खुले दिल वाले लड़कों से मालूम हुआ, आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल छायावाद की कविता और उसके कवियों का मजाक उड़ाते हैं, यह विद्यार्थियों को पसन्द नहीं; इसके जवाब में यह व्याख्यान का ठाट बांधा गया है; शुक्ल जी को वे ख़ास तौर से इसका प्रतिपादन सुनाना चाहते हैं। लड़कों की मंडली में खूब ताश खेले। कभी कभी छः छः घन्टे पार कर दिये। दो तीन रोज पहिले गया था। प्रसाद जी से मिला। उन्होंने व्याख्यान के दिन मुझे अपने यहां से ले चलने के लिये वाजपेयी जी से कहा। बात तै हो गई। मैं प्रसाद जी के यहां चला आया। प्रसाद जी ने राय कृष्णदास जी की मोटर मंगा लिया और अपनी मंडली लेकर यथासमय चले। उस दिन उन्होंने इत्र से मुझे खूब सुवासित किया। मैंने व्याख्यान के नोट लिख लिये थे जो ऐन वक्त पर काम न दे सके, क्योंकि मैं भाव में ऐसा डूबा था कि कागज़ पर निगाह डालता था तो कुछ दिखाई न पड़ता था। अच्छी उपस्थिति थी। पूज्य उपाध्याय जी सभापति के आसन पर समासीन थे, वाजपेयी जी और सोहनलाल जी कार्रवाई में उनकी मदद कर रहे थे। छात्र-छात्राओं की अच्छी संख्या थी। सिर्फ पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल न आये थे। मेरा भाषण लड़कों को पसन्द आया। मैं उसे साधारण रूप से सफल हुई वक्तृता समझता हूँ। मुझे याद है, जब भी बोलते वक्त सभा की सामाजिकता का खयाल न था, मैंने कहा था, तीसरे दर्जे का विद्यार्थी एम० ए० का कोर्स क्या समझेगा?—रहस्यवाद और छायावाद की मूल

धाराओं को समझने के लिये अध्ययन और मनन आवश्यक है—यह काव्य का ज्ञान-कांड है। इस बात से उपाध्याय जी नाराज़ हो गए और भाषण के बीच में आवश्यक कार्य की आड़ लेकर चले गये। उनके जाने पर वाजपेयी जी सभापति के आसन पर बैठे। वाजपेयी जी ने अपने भाषण में छायावाद को विद्रोहात्मक काव्यधारा बताया और नूतनतर उत्थान के रूप में उसकी व्याख्या की जो विद्यार्थियों को पसंद आई। सभा भले-भले समाप्त हुई।

एम० ए० का इम्तहान देकर वाजपेयी जी गांव आये। मैं गांव में ही था। कभी वे मेरे गांव आते थे, कभी मैं उनके गांव जाता था। एक दिन निश्चय हुआ, यहां एक पुस्तकालय कायम किया जाय। चूंकी वाजपेयी जी का गांव बड़ा है इसलिए उसी गांव के लिये निश्चय हुआ। यह इरादा पहले मैं पक्का कर चुका था, वाजपेयी जी के एक चाचा पंडित रामेश्वर जी वाजपेयी (श्री आनन्द मोहन वाजपेयी एम०ए० के पिता) से सभा हुई। स्थानीय सभासदों की सहानुभूति और सम्मति मिली। मैं शुरू से अदूरदर्शी था; आदर्श प्रियता में पड़कर कुछ किताबें, पत्र-पत्रिकायें और रुपये दिए, एक सज्जन ने भवन बनने तक अपनी बैठक में पुस्तकालय के लिये जगह दी। काम जारी हो गया। लेकिन स्थानीय लोगों की वैसी सहानुभूति न मिली।

पुस्तकालय द्वारा आसपास की ग्रामीण जनता के लिये व्याख्यानों की योजना हुई जिसमें उनके उपयुक्त विषयों पर मेरे और वाजपेयी जी के व्याख्यान हुआ करते थे। उनसे अच्छी जागृति आसपास की जनता में हो गई थी।

इन्हीं दिनों बातचीत करने पर मुझे मालूम हुआ वाजपेयी जी साहित्य को ही अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं। एक दिन इसी आधार पर यह तै हुआ कि आचार्य द्विवेदी जी के यहां चला जाय। द्विवेदी जी का गांव दौलतपुर वाजपेयी जी के गांव, मगरायर से १७-१८ मील पड़ता है। बैलगाड़ी पर चढ़कर हम लोग आचार्य द्विवेदी जी के दर्शनों के लिये चले। मुझ पर पहले द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी, बाद को मेरे 'मतवाला' में चले जाने से और असमर्थित साहित्य की सृष्टि करने से, असन्तुष्ट हो गये थे लेकिन फिर भी उनके हृदय में मेरे लिये स्नेह था। हम लोग कुछ चक्कर काटते आचार्य द्विवेदी जी के यहां, दौलतपुर पहुँचे।

उन्होंने वाजपेयी जी को बुलवाया और पूछताछ करने लगे। ऐसे ढंग से प्रश्न करते थे कि सुन कर बड़ा आनन्द आता था। एक एक करके उन्होंने वाजपेयी जी के घर की कुल बातें मालूम कर लीं और इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सम्पन्न हैं। श्री नन्द दुलारे वाजपेयी में और जो कुछ हो, बातचीत में विपन्नता बिलकुल नहीं ज़ाहिर होती; विद्यार्थी जीवन से ही 'न दैन्यं न पलायनम्' के वे प्रतीक हैं। फिर साहित्यिक बातचीत चली। वाजपेयी जी का सवा पाव का दिया जवाब, ध्वनि के साथ द्विवेदी जी को सवा सेर जँचता रहा। मैं बैठा आनन्द लेता रहा। द्विवेदी जी हिन्दी में काम करने के प्रसंग पर जो कुछ कहते थे वह प्राचीन व्यवहारिक दृष्टि से उत्तम होने पर भी सन् १६२९ ई० के शिक्षित व्यक्ति के लिये अग्राह्य हो तो खुशी की बात ही कहना चाहिए। १९२० ई० में द्विवेदी जी ने मेरे लिए भी कई प्रयत्न

किए थे, पर उनकी शिक्षा का निर्वाह मेरी शक्ति से बाहर की बात थी। पहर रात रहते हम लोग गाड़ी पर बैठ कर गांव चल दिए।

विश्वविद्यालय के खुलने पर वाजपेयी जी काशी चले गए और आचार्य श्यामसुन्दर दास जी से मिल कर उनकी आज्ञा से रिसर्च करने लगे। एक वर्ष तक रिसर्च करने के बाद पंडित वेंकटेश नारायण जी तिवारी के 'भारत' के सम्पादन कार्य से अलग होने पर वाजपेयी जी 'अर्द्ध-साप्ताहिक भारत' के संपादक हुए।

वाजपेयी जी नई आलोचना शैली को जीवन देते हुए उसे इस तरह आगे बढ़ाते हैं कि हिन्दी के अपर मौलिक साहित्य के उज्जीवन की तरह आलोचना भी अपने सच्चे अस्तित्व को आंखों से देखती है, अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होकर सांस लेती है। वाजपेयी जी की समीक्षा मुख्यतः मनोवैज्ञानिक विवेचन पर आधारित है। इस विवेचन में न केवल रचयिता की मनोवृत्ति की, बल्कि उसकी रचना के साहित्यिक सौष्ठव की भी परीक्षा हो जाती है। वाजपेयी जी की समीक्षा में साहित्य की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रेरक शक्तियों की भी उपेक्षा नहीं है।

'भारत' में हिन्दी कवियों की बृहत्त्रयी उन्हीं की निकाली हुई है। इस लेख का उद्धरण दूसरी जगह किया गया और आज भी विद्वान आलोचक इसका समर्थन करते हैं।

प्रेमचन्द और मैथिलीशरण की भी उन्होंने आलोचना की। हिन्दी में एक तूफ़ान सा उठ खड़ा हुआ, पूरे एक आन्दोलन की सी सृष्टि हो गई। पर आलोचक वाजपेयी अचल रहे। प्रेमचन्द जी से

वादविवाद चला, इसमें भी वाजपेयी जी अपने विचार में दृढ़ रहे। प्रेमचन्द जी बहुत उदार थे। उन्होंने वाजपेयी जी की सत्यता मान ली। जब उनके अन्तिम दिन थे—रोगशैय्या पर पड़े हुए थे, मैं वाजपेयी जी के साथ मिलने गया था, उस समय भी उन्होंने वाजपेयी जी की आलोचना की प्रशंसा की थी।

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक अत्यन्त योग्यतापूर्वक 'भारत' द्वारा हिन्दी की सेवा करने के बाद इस पत्र से आप का सम्बन्ध विच्छेद हुआ। यहां से चल कर, आप कुछ दिनों तक आचार्य श्यामसुन्दर दास जी के सहायक की हैसियत से 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' के परिवर्धित संस्करण में काम करते हैं। फिर 'सूर सागर' का कई साल तक 'नागरी प्रचारिणी' सभा में रह कर सम्पादन करते हैं यह काम पूरा कर 'गीता प्रेस' जाते हैं और वहां रामचरित मानस का सम्पादन करते हैं। ये काम ऐसे हैं जिनसे वाजपेयी जी के नवीन और प्राचीन हिन्दी साहित्य के ज्ञान पर पूरा प्रकाश पड़ता है। १९२८ ई० से १९४१ तक उन्होंने अनेकानेक सारगर्भ लेख लिखे हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य के भण्डार में मूल्यवान रत्न आए हैं। साधारण और साहित्यिक जनों का आदर और विश्वास उन पर बढ़ा है। 'गीतिका' (निराला),'कामायिनी' (प्रसाद), 'काव्य और कला' (प्रसाद), तथा 'अपराजिता' (अंचल) पुस्तकों की भूमिका और इन पर लेख लिखे। उनकी लिखी 'जयशंकर प्रसाद','सूर सन्दर्भ' पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' पुस्तक में द्विवेदी जी से आरम्भ कर अब तक के प्रमुख साहित्यिकों

पर निबन्ध हैं। इनसे इस काल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। 'साहित्य-एक अनुशीलन' में साहित्य सम्बन्धी विचारात्मक लेख हैं। उनके और भी साहित्यिक उद्बोधन के कार्य हैं। यह सब देखने पर उनकी विशाल ज्ञानराशि और हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन दोनों विभागों में साधिकार प्रवेश का निर्णय हो जाता है। आपने 'द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ' की प्रस्तावना जिस योग्यता से लिखी है उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। वाजपेयी जी अकेले व्यक्ति अपने समय के हैं जिन पर हिन्दी को सस्नेह गर्वानुभव है। उनके इन्हीं गुणों और कार्यों के कारण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य विभाग का उन्हें सभापति चुन कर सम्मानित किया। उनका निर्मित आदर्श और उन का ऊँचा दिया ज्ञान हिन्दी भाषियों को उठाने वाला है। वाजपेयी जी ने भारतीय और पाश्चात्य दर्शनशास्त्र का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। इस अध्ययन की छाप उनकी आलोचनाओं में सब जगह है। राजनीतिक विचारों में वे आरम्भ से ही गांधीवादी रहे हैं, यद्यपि आध्यात्मिक मान्यताओं में वे गांधी जी के आदर्शवाद की अपेक्षा विशुद्ध भारतीय या हिंदू आदर्शवाद की ओर अधिक झुके हैं। राजनीतिक विचारों में भी वाजपेयी जी गांधी जी के अंधभक्त नहीं हैं। साहित्य में आप स्वच्छता और सप्राणता के हामी हैं। प्रणाली और उद्देश्य में दोनों शिष्टता और स्वास्थ्य चाहते हैं। साहित्य का वे समाज के प्रगतिशील उत्थान में सक्रिय योग आवश्यक समझते हैं।

काव्य-साहित्य

"पश्चिम के लिए जिस तरह यहाँ के भावों की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग यहाँ वालों के लिये जरूरी है। इस समय वहाँ वालों का खूनी प्रेम भी शक्ति-संचार के लिए यहाँ आवश्यक-सा हो गया है। यह है आसुरी; राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं में राक्षस ही प्रबल होकर बल पहुँचाते हैं, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते।"

मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुषता तक पहुँच कर शब्दब्रह्म से उसका संयोग प्रत्यक्ष करने के पश्चात यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति क़रार दिया। अन्यान्य देश वालों ने भी तरह-तरह के तरीक़े इख़्तियार कर एक अप्रत्यक्ष दिव्य शक्ति को ही काव्य के कारण के रूप में सिद्ध किया। काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर ख़ास तौर से ज़ोर देता हो, तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा। कारण, अहंकार को घटा कर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह बढ़ाकर भूमा में परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है-जैसा ज्ञानियों ने किया। शंकर, कबीर, रवीन्द्रनाथ, गटे बढ़ने वालों में हैं और तुलसीदास, सूरदास तथा अपर भक्त कवि आदि अहंकार की भूमि से हटने वालों में, दोनों जैसे एक ही शक्ति की अणिमा और द्राघिमा विभूति हों। काव्य के विचार के लिए भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि आलोचक के लिए यथेष्ट शस्त्र हैं। विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का।

जिस तरह कवियों पर एक देशीयता के दोष लगाए जाते हैं, उसी तरह प्रायः अधिकांश आलोचक भी अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते, अपनी ही दिशा के ऊँट बनकर चलते हैं। जैसे, हिन्दी-

साहित्य की पृथ्वी पर अब ब्रज भाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर "भूतवानसि वेदम्" के भक्तों की नज़र में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम, "बेवक्त की शहनाई" के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर ५२ ज़िले के कवि ढेर होजाते हैं।

ऐसे आलोचक प्रायः सभी देशों में रहते हैं। हिन्दी तो अभी बालिका है, उसकी इज्ज़त नहीं की जाती तो न की जाय; समय उसके सेवकों को और बड़ा पुरस्कार देगा। अंगरेज़ी, जिसके प्रताप का सूर्य कभी अस्त होता ही नहीं, ऐसे सदाशयों से ख़ाली नहीं। टामस हार्डी अभी उस दिन मरे हैं। तब भी साहित्य की पताका इसी तरह आकाश में फहरा रही थी। पर तिरस्कार के प्रति हार्डी कहते हैं—

हँसो, मज़ाक करो, फिर भी मैं किसी महान् आत्मा से प्रार्थना करता जाऊँगा जो कदाचित् मानसिक दुःखों को अपनी प्रभा से चकित कर हटा सकती है।

बंगाल में जब रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की किरणें सत्साहित्यिकों के हृदय के कमलों को खोल रही थीं और सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे थे, उस समय कितना विरोध हुआ था! रवीन्द्रनाथ ने एक पद्य में इसकी कैफ़ियत दी थी। उसमें उनके कवि-हृदय का काव्य-स्रोत ही फूट पड़ा है।

"अश्रु झलिबे शिशिरेर मत,
पोहाइये दुख-रात!"

ये आँसू हैं, मित्र, (शब्द नहीं) जो ओस कणों की तरह दुःख की रात पार कर अब चमक रहे हैं।

"जान कि बंधु, उठियाछे गीत
कतो व्यथा भेद करि।"

(हे मित्र, क्या तुम जानते हो, ये गीत कितनी व्यथा पार कर निकले हैं?)

एक दिन सुमित्रानंदन को भी आलोचनाओं से घबरा कर भव भूति की तरह इस भाषा में लिखना पड़ा था—

"न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर मनन, शकुनि नादान!"

गोस्वामी तुलसीदास को इन आलोचकों से कम घबराहट न थी?

"भाषा-भनित मोरि मति थोरी।
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।"

ज़रा सोचिए तो, समालोचकों की किस वृत्ति का इन पंक्तियों से परिचय मिलता है। श्रीहर्ष के मामा ने कहा, मैंने काव्य के दोष दर्शन के लिए व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, तुम्हारे नैषध में सब दोष एकत्र मिल जाते हैं। और यह वह नैषध है, संस्कृत-साहित्य में जिसकी जोड़ का दूसरा ग्रंथ है ही नहीं, जिसके उदय से किराताजु'नीय और शिशुपाल-वध-जैसे महाकाव्यों की प्रभा मंद पड़ गई। आलोचकों की कृपा जिन पर नहीं हुई, ऐसे भाग्यवान् कवि संसार में थोड़े ही होंगे।

जिन तीन साहित्य-रथियों का मैं ज़िक्र कर चुका हूँ, प्रेमचंद जी प्रसाद जी, और पंत जी, वे कृति तैयार करने वाले हैं, उनकी

आलोचनाएँ कैसी भी हों, वे आलोचनाओं से पहले हैं, पीछे नहीं। आज भी हिन्दी-साहित्य के व्याकरण की निंदा होती है, महात्मा गाँधी जैसे श्रेष्ठ मनुष्य का कहना है कि यू० पी० वालों की भाषा ठीक नहीं होती—अगर कोई ऐसे हैं, तो महात्माजी को इसका ज्ञान नहीं, पर इससे हिन्दी-साहित्य की प्रगति रुक नहीं रही, और भाषा के व्याकरण पर दोष देने वालों की दिक्कतें भी बामुहाविरा हिन्दी लिखने वाले यू० पी० के बड़े-बड़े साहित्यिकों को, जिन्हें अपर दो-एक साहित्यों के व्याकरण का भी ज्ञान है, मालूम हो जाती हैं। इसके कारण के लिखने की यहाँ जगह नहीं। मैं सिर्फ यही कहूँगा कि जिस तरह व्याकरण भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके, यदि उस कृति के फूल खुले हैं और उनमें सुगंध है; समालोचक अपना जितना भी ज़बरदस्त ठाट खड़ा करे, वह कभी टिक नहीं सकता। इसलिए समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की "काव्य में रहस्यवाद" पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलाने वालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा-समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुंतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है।

फूल का मुख्य गुण है उसकी सुगंध, कृति का मुख्य गुण उसकी रोचकता। पर जिस तरह चीनियों को घी में बदबू मिलती है और सोड़े में डुबोकर जीते हुए तिलचट्टे खाने में स्वाद, उसी तरह यदि

चूँकि जैसे कृतिकारों की रचनाएँ किसी को रुचिकर प्रतीत न हों और गुणों की गणना से दोषों की ही संख्या बढ़ रही हो, तो संदेह उन्हीं की रुचि-योग्यता पर होगा, जो एक हिन्दुस्तानी चीज़ को अंगरेज़ी चीज़ (cheese—पनीर) बना डालते हैं। (कहते हैं, जिस पनीर में कीड़े पड़ जाते हैं—सड़कर बदबू आने लगती है, वह खाने में ज़्यादा स्वाददार समझी जाती है, कारण, कीड़े कुछ मीठे होते हैं।) दूसरा कारण यह भी है कि 'उग्र' जी की कृति पढ़ कर समालोचक अपनी आलोचना की तोप में बर्नर्ड शॉ, डी. एल. राय और रोमें रोलाँ को भर कर दागते हैं। 'उग्र जी भी बर्नर्ड शॉ होते यदि आपका समाज अँगरेज़ों की तरह शिक्षा तथा सभ्यता की उतनी ही सीढ़ियाँ तय किए हुए होता। रही बात योग्यता की; सो "उग्र" जी की योग्यता का पता लगाने से पहले बर्नर्ड शॉ की ही योग्यता का पता लगा कर बतलाइए कि वह किस विश्व-विद्यालय से Ph. D. होकर निकले हैं, जो यह फ़िलासफी छाँट रहे हैं, और कहाँ के वह साहित्य के डाक्टर हैं, जो नोबुल पुरस्कार प्राप्त कर लिया। जैसे उनके लिए अँगरेज़ी सुगम है, वैसेही "उग्र" जी के लिए हिन्दी; उनके अँगरेज़ी के चित्र, अँगरेज़-समाज के परिचायक हैं, "उग्र" जी के हिन्दी के चित्र हिंदी-समाज के परिचायक। आपको अच्छा न लगे तो, चीन या विलायत चले जाइए, यहाँ क्यों व्यर्थ की बदबू में सड़ रहे हैं ?

"तुम्हारी कृति सौंदर्य-किरीटनी हो; तुम्हारा जीवन सप्रेम; तुम्हारा मन सत्य के साथ ऊपर ईश्वर तक चढ़ा हुआ हो, जिसके

लिये सब कुछ है, जिससे सब शुरू हुआ, जिसमें सब सौंदर्य, सत्य और प्रेम एक है।"

सत्य या ईश्वर ही का वह रंग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है। अनेक प्राणों में एकही प्रकार की सहानुभूति, एकही मधुर राग बज उठता है। 'ब्रिजेज़' के ये भाव भारत के हृदय में चिरतन सत्य की प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इन पंक्तियों में सत्य का जो सूत्र है, उससे भारत और इंगलैंड बँधा हुआ है। दोनों आत्माएँ एक हैं, जातिगत कोई भी वैषम्य यहाँ नहीं। प्रिया के चित्र को कितनी खूबसूरती से कविवर विलियम शेक्सपियर खींचते हैं। देखिए—

"मेरी आँखों ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौन्दर्य की तस्वीर मेरे हृदय की मेज़ पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अंदर वह रक्खी है। शीशे के अंदर देख पड़ती हुई-सी वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार की कला है; क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्ति खिंची हुई रक्खी है। वह तस्वीर मेरे हृदय की दूकान में निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के झरोखे तुम्हारी हेरती हुई आँखें हैं। अब देखो कि आँखों ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आँखों ने तुम्हारी तस्वीर खींच ली, और तुम्हारी आँखें मेरे लिए मेरे हृदय की खिड़कियाँ हैं।" कितना कमाल है!

"लोचन-मगु रामहिं उरआनी।
दीन्हें पलक-कपाट सयानी।"—

में स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बड़ा सौन्दर्य अवश्य नहीं। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो एक कारण—जैसे, मेज़ का उल्लेख है, हटा दिए जायँ, तो क्या किसी भारतीय के लिए अपनी चीज़ कहने में कोई असुविधा हो सकती है? इस प्रकार की एक उक्ति और याद आई–

"नैन झरोखे बैठि के, सबको मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय।"

भावों की उच्चता पर कुछ भी नहीं कहना, पर कला की जो खूबसूरती शेक्सपियर में है, वह इसमें भी नहीं। इस तरह के भाव—"तेरे नैनन-झरोखे बीच झाँकता सो कौन है" अनेक लड़ियों में गुथे हुए मिलते हैं। हिन्दी में कहीं मैंने शेक्सपियर की-सी उक्ति पढ़ी है, मुझे स्मरण नहीं। प्रिया और प्रियतम के स्नेह का आदान-प्रदान इस तरह की उक्तियों से बढ़ा दिया जाता है, इसलिए सांसारिक दृष्टि से इस कला को बहुत बड़ा महत्व प्राप्त है।

"हे धीर कुमारी, मुझे तुम्हारे चुम्बनों से भय है, पर तुम्हें मेरे चुम्बनों से नहीं घबराना चाहिए, क्योंकि मेरी शक्ति इतनी दबी हुई है कि वह तुम्हारी शक्ति का भार नहीं सँभाल सकती।"

"मैं तुम्हारी छवि, वाणी और गति से डरता हूँ, पर तुम्हें मेरी चेष्टाओं से नहीं डरना चाहिए; क्यों? हृदय के जिस अर्घ्य से मैं तुम्हें पूजता हूँ, वह निर्दोष है।"

शेली की इन पंक्तियों में, कविता-कुमारी की साधना कर वह कितना कोमल बन गया था, इसका प्रमाण मिल जाता है। प्रायः

कवियों को हम कुमारियों की पूजार्चा करते हुए, अनेक प्रकार की स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करते हुए देखते हैं। पर शैली अपनी सुन्दरी कुमारी की छवि, शब्द तथा गति से भी डरता है, जैसे कुमारी की गति से उसी के सुकुमार प्राण काँप उठते हों—इतनी कोमलता।

कल्पनामय, शब्दों में प्रांजल रवीन्द्रनाथ—

"अलख निरंजन—
महारव उठे बंधन टुटे
करे भय—भंजन।
वक्षेर पाशे घन उल्लासे
असि बाजे झंझन।
पंजाब आजि उठि ले गरजि—
"अलख निरंजन।"
एसे छे से एक दिन
लक्ष पराणे शंका ना जाने
ना राखे का हारो ऋण।
जीवन मृत्यु पायेर भृत्य
चित्त भावना हीन।
पंच नदीर घिरि दशतीर
एसे छे से एक दिन॥
दिल्ली-प्रासाद कूटे
होथा बार-बार बादशाजादार
तंद्रा जेते छे छूटे।

कोदर कंठे गगन मंथे
निबिड़ निशीथ टुटे,
का देर मशाले आकाशेर भाले
आगुन जेने छ फुटे ॥

"अलख निरंजन" महान रव उठता, बंधन टूट जाते, भय दूर हो जाता है। कटि में सोल्लास असि भन-भन बज रही है। आज पंजाब "अलख निरंजन" गरज उठा।

वह भी एक दिन था जब लाखों प्राण शंका नहीं जानते थे। किसी का ऋण नहीं रखते थे। जीवन और मृत्यु पैरों के भृत्य-से थे, चित्त चिन्ता से रहित। पाँचों नदियों के दसों तट घेरकर वह भी एक दिन आया था।

दिल्ली के प्रासाद-कोट में बार-बार शाहज़ादे की आँख खुल रही है। आधीरात के स्तब्ध आकाश को मथता हुआ यह किसका कंठ है?—आकाश के भाल पर फूटती हुई यह किनके मशालों की आग है?"

कल्पना, चित्रण तथा ओज एक ही पद्य में मिल जाता है, पढ़-कर हृदय की काव्य-तृष्णा मिट जाती है। हिंदी में यदि चारों ओर से परकोटा घेर कर अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावराशि रोक रक्खी गई, तो इस व्यापाक साहित्य के युग में हिंदी के भाग्य किसी तरह भी नहीं चमक सकते और उसके साहित्य में महाकवि तथा बड़े-बड़े साहित्यिकों के आने की जगह चिरकाल तक 'बनी रहे-ठनी रहे' होता रहेगा। पुराना साहित्य हिंदी का बहुत अच्छा था, पर नया और

अच्छा होगा, इस दृष्टि से उसकी साधना की जायगी। पुराने साहित्य का जितना दायरा था, नए का उससे बहुत अधिक बढ़ गया है। जो लोग ब्रजभाषा के प्रेमी हैं, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिंदी की नवीन संस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिंदी की नवीन कृतियों को नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्रायः ब्रजभाषा की श्रेष्ठता ज़ाहिर करने के लिए, तब उनकी इस रुचि की वजह उन्हें प्रयत्न कर के साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए। उनके द्वारा साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। वे तो सिर्फ़ मनोरंजन के लिए काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तर-दायित्व को लेकर नहीं, उनकी आँखों में दूर तक फैली हुई निगाह नहीं है। वे अपने ही घर को संसार की हद समझते हैं। साहित्यिक प्रतिस्पर्धा क्या है, अपर साहित्यों से भावों के आदान प्रदान के लिए कैसी शिष्टता, कितनी उदारता होनी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृति-गत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन-से भाव सार्वजनीन और कौन से एक देशीय हैं, उन्हें पता नहीं। चिरकाल से एक ही समाज के चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गई है, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रक्खी जाती है, तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दोहाई देकर उसे देश निकाले पर तुल जाते हैं। पर यदि उनसे पूछा जाता है कि वे किसी भी एक क़ायदे का बयान करें, जो उनकी चिरंतन भारतीय संस्कृति हो और जिस ढंग की संस्कृति दूसरे देशों में न हो, तो महाशयगण उत्तर देने की जगह दुश्मन की

तरह देखने लगते हैं। कोट के सामने आधुनिक मिर्ज़ई की प्राचीनता-भक्ति की तरह उसके पहनने वाले यदि विचारपूर्वक देखेंगे, तो मिर्ज़ई भी उनकी सनातन पोशाक ठहरेगी। एकबार बनारस में अपनी पुरानी पवित्रता की व्याख्या करते हुए मेरे एक मित्र ने कहा, हम लोग पीताम्बर पहन कर खाते हैं। इस बीसवीं सदी में उनका पीताम्बरधर दिव्य रूप आँखों के सामने आया तो बड़ी मुश्किल से हँसी को रोकना पड़ा, जैसे आजकल के वकीलों का झब्बा देखकर अकस्मात् जटायु की याद आजाती है। मैंने मन-ही-मन कहा, पहले के आदमी पीताम्बर पहन कर भोजन करते थे या दिगंबर होकर, यह सब बतलाना बहुत कठिन है। पर अगर ज़रा अक्ल का सहारा लिया जाय, तो दिगंबर रहना ही विशेष रूप से सनातनधर्म जान पड़ता है, कारण सनातन पुरुष के बहुत बाद ही कपड़े का आविष्कार हुआ होगा और इस प्रथा को मानने वाले सिद्ध नागे महाराजों की इस समय भी कमी नहीं। अस्तु, अभिप्राय यह है कि भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता तथा सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को क़ायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातनधर्म व्याप्ति है भी।

देखने के लिए जो दो चार उद्धरण दिए गए हैं, उनमें उच्चतम वेदान्त वाक्य से लेकर शृंगार के अत्यत आधुनिक चित्र तक हैं, पर वे अभारतीय होकर भी भारतीय हैं। कारण उनमें प्रकाश तथा जीवन है। जो भाव या चित्र किसी देश की विशेषता सूचित करते

हैं, वे उतने अंश में एक देशीय हैं। पर जहाँ मनुष्य मन के आदान-प्रदान हैं, वहाँ वह व्यापक साहित्य ही है। सिर्फ उसके उपकरण अलग अलग होते हैं। शेक्सपियर की नायिकाओं के परिच्छद एक देशीय हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा, प्यार, भाव व्यापक हैं। पश्चिम के लिए जिस तरह यहाँ के भावों की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग यहाँ वालों के लिए ज़रूरी है। इस समय वहाँ वालों का खूनी प्रेम भी शक्तिसंचार के लिए यहाँ आवश्यक-सा हो गया है। यह है आसुरी, राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं में राक्षस ही प्रबल होकर बल पहुँचाते हैं, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते। हिंदी के भारतीय लोगों ने 'तुलसी' की कथा पढ़ी होगी। यहाँ के साहित्य में मद्यपान बहुत कम है, पर वेदों में मादक सोमरस की जैसी महिमा है, प्रायः सभी लोग जानते हैं; और मद्य के प्रचार का कहना क्या? जिस गुजरात में अब ताड़ी के पेड़ कट रहे हैं, वहीं द्वापर में अवतार श्रेष्ठ श्रीकृष्ण जी के वंशज यादवों ने शराब पीकर एक ही दिन में अपना संहार कर लिया था। शायद शराब का ऐसा रोचक इतिहास मद्यप योरप भी नहीं दे सकता। शराब अच्छी भी है और बुरी भी अवश्य। यहाँ मैं देश प्रेम की बात नहीं कर रहा। साहित्य की शराब मुझे तो अत्यंत रुचिकर जान पड़ती है और बिना विचार के इसे भारतीय कर लेने की इच्छा होती है। किसी मुसलमान विद्वान ने कहा था, योरप शराब से डूबा हुआ

है, पर कहीं के धर्म से भी शराब की तारीफ़ न करने वाले एशिया ने शराब की कविताओं से योरप को मात कर दिया। शराब से सख़्त नफ़रत करने वाले कितने ही पंडितों को मैं जानता हूँ, जिन्हें दवा के रूप से ब्रान्डी दी गई और वे बिना शिखा हिलाए पी गये। सुना है, यदि दवा के तौर पर प्रतिदिन थोड़ी-सी शराब पी जाय, तो स्वास्थ्य को निहायत फ़ायदा पहुँचाती है। यों तो मैं जानता हूँ, हरखाद्य पहले पेट में पहुंच कर शराब बनता और नशा पहुँचाता है, उसीके रासायनिक अनेक रूप शरीर की जीवनी शक्ति बनते हैं। नशे की नींद के बाद ही जागरण का आनंद मिलता और जागरण की ज़रूरत के साथ नींद की भी आवश्यकता सिद्ध होती है। इसी तरह इन दिव्य भारतीयों को कुछ प्रसन्न करने के लिए आसुर शराबी भाव भी आवश्यक हैं। परदेश के साहित्यिक सुधारपंथी नेतागण अवश्य इसके ख़िलाफ़ विद्रोह खड़ाकर मेरी स्त्री की तरह अपनी दिव्यता का परिचय देंगे।

यहाँ ज़रा अपनी धर्मपत्नी की दिव्यता का परिचय दे लूँ। खेद है कि अपनी दिव्यता के कारण ही वह इस समय दिव्यधामवासिनी हो रही। पंडितों ने मेरा और उनका संबंध पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं इसलिए बिबाह के पश्चात मेरी और उनकी प्रकृति वैसे ही मिली, जैसे पंडितों की पोथियों के पत्र एक दूसरे से मिले रहते हैं। वह अखंड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज मांस खाता था। उन्होंने मुझे विश्राम-सागर, पद्म-पुराण; शिव-पुराण, और न-जाने कौन-कौन से ग्रंथ, गुटके और पाद-टिप्पणियाँ दिखलाकर कहा, इससे बड़ा पाप होता है। तुम माँस खाना छोड़ दो। तब मैं

कुछ मूर्ख था और वह मुझसे हिंदी में ज़्यादा पंडिता थीं। मांस से कितनी भयंकर सज़ा मिलती है, उसके जो चित्र उन्होंने दिखलाये, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते। कुछ दिनों तक मैंने मांस खाना छोड़ दिया। तब मेरा स्वास्थ्य भी मुझे छोड़ने लगा। स्वास्थ्य की चिन्ता तो होती थी, पर यमदंड के भय के सामने स्वास्थ्य का विचार न चलता था। मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का भय न था, जितनी प्रसन्नता मेरे मांस छोड़कर भारतीय बन जाने की थी। धीरे-धीरे सूख कर काँटा हो गया। एक दिन नहाने के लिए जारहा था, कुएँ पर मेरे एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले। मुझे देखकर बड़े तअज्जुब में आए, पूछा "तुम क्या होगए?" मैंने कहा "मांस छोड़ दिया, इसलिए दुबला हो गया हूँ।" उन्होंने कहा, "तो मांस क्यों छोड़ा?" मैंने कहा, "विश्राम-सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसा-हारी को यम के दूत बड़ा दंड देते हैं।" उन्होंने पूछा, "तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर?" मैंने सच-सच बतला दिया। उन्होंने कहा, "तो तुम फिर खाओ कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको वरदान है।" मैंने पूछा, "कहीं लिखा भी है।" उन्होंने कहा, 'हाँ, है क्यों नहीं? वंशावली में लिखा है।'

मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई। पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया। उनसे तो मैंने कुछ भी न कहा, शाम को बाजार से आधासेर मांस तौला लाया। मकान में लाकर रक्खा, तो श्रीमती जी दंग। उस समय मेरे घर के और लोग विदेश में थे। श्रीमती जी रूमाल में खून के धब्बे देखकर समझ गईं, पूछा, यह क्या है?

मैंने कहा "मांस "।"तो क्या फिर खाओगे ?" मैंने कहा, "हां, हमें वरदान है ।" श्रीमती जी हँसने लगीं, पूछा—"कहाँ मिला यह वरदान ?" "हमारे पूर्वजों को मिला है वंशावली में देख लो, तुम्हें बिश्वास न हो।" श्रीमती जी ने कहा, "खुद पकाते हो ही, अपने मांस वाले बरतन अलग करलो, और जिस रोज़ मांस खाओ, उस रोज़ न मुझे छुओ और न घर के और बरतन, और तीन रोज़ तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे।" मैंने कहा, इस समय तो रोज़ खाने का विचार है, क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है।" उन्होंने कहा, "तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ ।" मैंने कहा, "लिख दो कोई ले जाय; नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे; मैं जहाँ माँस पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूँगा।" श्रीमती जी चली गईं। पत्नी-प्रेम इसी तरह तीन चार साल कटा। चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके। अंतिम बार मायके में इन्फ्लूएंजा के साल, उन्हें भी इन्फ्लूएंजा हुआ। तब मैं बंगाल में था। मेरे पास तार गया। जब मैं आया, तब महाप्रयाण हो चुका था। क़स्बे के डाक्टर मेरे परिचित मित्र थे। उनसे मिला, तो अफ़सोस करने लगे। कहा, "फेफड़े कफ से जकड़ गए थे, प्यास ज़्यादा थी, मैंने पानी की जगह अखनी पिलाने के लिए कहा, वैसे ही डाक्टरी दवा भी देने के लिए पूछा, उन्होंने इन्कार कर दिया, कहा, दस बार नहीं मरना है।" इस दिव्य भावना ने अगर कुछ भी मेरे साथ सहयोग किया होता, तो शायद यह अकाल मृत्यु न हुई होती और जीवन भी कुछ सुखमय रहता। इस तरह साहित्य को जीवित रखने के

लिए उसमें अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है, और जब कि अपने-अपने स्थान पर सभी भाव आनंदप्रद और जीवन पैदा करने वाले हैं। व्यापक साहित्य किसी खास संप्रदाय का साहित्य नहीं। शराब, कबाब, नायिका, निर्जन साज और संगीत के कवि उमरख़ैयाम की इज़्ज़त साहित्य संसार के लोग जानते हैं। ग़ालिब मशहूर शराबी थे। पर उनकी कृति कितनी सुन्दर है। व्यापक भावों के कवि रवीन्द्रनाथ ने भी इससे फ़ायदा उठाया है—

"कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे
कुंज कानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन-सुरा
धरेछि तोमार मुखे।
तुमी चेये मोर आँखी परे
धीरे पात्र लयेछ करे
हेसे करियाछ पान चुम्बन भरा
सरस बिंबाधरे
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे
मधुर आवेश-भरे॥

(कल वसन्त-ज्योत्स्ना की अर्ध रात्रिको सुखसे बगीचे के कुंज में छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा मैंनें तुम्हारे मुख पर रक्खा था। तुमने मेरी आँखों की ओर देखकर धीरे से पात्र (प्याला) हाथ में ले लिया, और हँसकर चुम्बनों से खिले हुए सरस बिम्बाधरों से मधुर आवेश में आ, पी गईं।)

यहाँ रवीन्द्रनाथ से एक बड़ी ग़लती हो गई है। पहले उन्होंने 'यौवन-सुरा' लिख कर सुरा के यथार्थ भाव में परिवर्तन करना चाहा था। वहाँ उन्होंने तरंगित यौवन को ही सुरा बनाया है। पर अंत तक नहीं पहुँच सके। क्योंकि अंत में उनकी प्रिया की जो क्रिया है, वह सुरा पीने की ही है, यौवन-सुरा पीने की नहीं। विदेशी भावों को लेते समय ज़रा होश दुरुस्त रखना चाहिए। मुसलमानी सभ्यता के कवि इस कला में एक छत्र सम्राट हैं। एक जगह और रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

"दुःख सुखेर लक्ष धाराय
पात्र भरिया दियाछि तोमाय
निठुर पीड़ने निगाड़ि वक्ष
दलित द्राक्षा सम"

(दुःख और सुख की लाखों धाराओं से मैंने तुम्हारा प्याला भर दिया है—अपने वक्ष को निष्ठुर पीड़नों से दलित द्राक्षा की तरह निचोड़-निचोड़ कर।)

"दलित द्राक्षा" का भाव उमर ख़ैय्याम का है। सुरा की कविताओं में मुसलमानों ने कमाल कर दिया कि मयख़ाने को मसजिद से बढ़कर बतला दिया और पाठकों को पढ़कर आनंद आता है।

"दूर से आए थे साक़ी सुनके मयख़ाने को हम।
बस तरसते ही चले अफ़सोस पैमाने को हम॥"

यहाँ मयख़ाना मंदिर और पैमाना अमृत का कटोरा है।

"मय भी है, मीना भी है, साग़र भी है, साक़ी नहीं।
दिल में आता है लगादें आग मयख़ाने को हम ॥"

यहाँ साक़ी अमृत पिलाने वाला गुरु है। इस तरह शराब के लक्ष्य से बड़ी-बड़ी बातें कह दी गई हैं। उर्दू-साहित्य की काफ़ी निन्दा परवर्ती काल के सुधारकों ने की है। पर यह प्रायः सब लोग मानते हैं कि पहले की शायरी का आनन्द दुष्प्राप्य है।

काव्य साहित्य में लक्ष्य तथा भाव की परीक्षा की जाती है, उपकरणों की नहीं।

"क़िस्मत को देखिए कि कहाँ टूटी जा कमंद।
दो चार हाथ जबकि लबे बाम रह गया ॥"

असफलता की कितने सुन्दर सरस ढङ्ग से वर्णना की, सफलता तक पहुँचा कर असफल कर दिया।

हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है। पश्चिमी कवियों के हृदय में पूर्व के लिए अपार सहानुभूति उमड़ चली थी। उनका यही साहित्यिक पौरुष तथा प्रेम आज संसार भर में फैला हुआ है। वर्डस्वर्थ और उनके मित्र कालरिज ने पूर्व का वर्णन किया है। इधर डेढ़ सौ वर्ष में पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक चमत्कार कहाँ तक पहुँचा है, इसका हिन्दी-भाषियों को भी यथेष्ट ज्ञान है।

इङ्गलैंड के कवियों में पूर्व के साथ शेली का प्रगाढ़ प्रेम देख पड़ता है। पूर्व के रहस्यवादियों तथा सन्तों को वह चाव से याद करता है। ब्रह्म, शिव और बुद्ध भी उस की रचना में हैं। कीट्स भी

पूर्व की छवि से मुग्ध है। भारत का उल्लेख उसने भी किया है। भारत के अमर स्नेह में डूबा हुआ है। पूर्व देशों का इनमें सबसे ज़्यादा ज्ञान बायरन को था। उसने तुर्किस्तान की सैर भी की थी और इस तरह काव्य में अपना प्रत्यक्ष अनुभव लिखा है, जिससे उसकी वे रचनाएँ और भी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। अनेक रचनाएँ उसके भ्रमण के कारण साहित्य को मिलीं। नैपोलियन की उसने तैमूर से तुलना की। टेनीसन ने भी पूर्व पर काव्य लिखे। टेनिसन फ़ारस के सौन्दर्य पर मुग्ध था। परन्तु फिर भी पूर्व पर टेनिसन की बहुत श्रद्धा न थी।

यह सब पूर्व के लिए इङ्गलैंड का पक्ष-प्रवाह है। पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। नस-नस में शरारत भरी, हजार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक में दम हो गया अभी संस्कृति लिए फिरते हैं।

सबसे बड़ी आफ़त ढा रहे हैं कुछ साहित्यिक सुधार-पंथी, जो स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकते, दूसरों की कृत पर हमला करके महा लेखक बन जाना चाहते हैं। सुधार और प्रोपागंडा से साहित्य मंजिलों दूर है। 'प्रसाद' जी की जैसी समालोचना निकली है, जैसा दोष भाषा क्लिष्टता का बनारसीदास जी ने उनपर लगाया है, वह यदि वास्तव में मनुष्योचित शौर्य तथा पर्यवेक्षण के साथ आलोचनाएँ करते हैं, तो मैं उनसे कहूँगा, आप डी० एल० राय के ऐतिहासिक नाटकों को पढ़िए, फिर देखिए नव साल की बच्ची और दो कपिट्टी का नौकर गज़-गज़ भर के समस्त पद बोलते हैं या नहीं,

और यह देख कर, यदि अभी तक आप आँख मूँद कर ही राय महोदय के पीछे-पीछे चलते आए हों, एक वैसा ही नोट जैसा 'प्रसाद' जी की भाषा के संबंध में लिखा है, उसी तरह में लिखकर 'मार्डन रिव्यू' में छपवा दें, तो मैं आपकी इस आलोचना को आपकी मर्यादा के योग्य समझूँगा। आलोचकों ने, वरदान से "प्रसाद" जी को शाप ही अधिक दिया है, जो एक बहुत बड़े साहित्यिक अन्याय में दाखिल है। आलोचकों ने अपने को जितना बड़ा समझदार समझ लिया है, यदि कुछ हद तक प्रसाद जी को भी उसी कोटि में रखते, तो इतनी बड़ी त्रुटि न होती।

साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिए मैंने तमाम भावों की एक साथ पूजा करने का समर्थन किया। हिंदी के साहित्यिकों का अन्याय सीमा को पार कर जाता है। उन्हें अपनी सूझ के सामने दूसरे सूझते ही नहीं। हमें उनकी आँख में उँगली कर करके समझाना है, और बहुत शीघ्र वैसे संकीर्ण विचार वालों को साहित्य के उत्तर-दायी पद से हटाकर अलग कर देना है। तभी साहित्य का नवीन पौधा प्रकाश की ओर बढ़ सकेगा। हमें अपने साहित्य का उद्देश्य सार्व-भौमिक करना है, संकीर्ण एक देशीय नहीं। राष्ट्रभाषा को राष्ट्रभाषा के रूप से सजाना और अलंकृत करना है।

कला और देवियाँ

"कला के विकास के साथ देवियों की आत्मा का विकास हो और भारत के प्राचीन दिव्य शक्ति का प्रबोधन; भारतीयों के लिये उन्नयन का इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। देवियों की कला में उनकी दिव्य विभूति की पड़ी हुई छाप विश्व को अपनी श्रेष्ठता का परिचय दे।"

समुद्र-मन्थन की बात प्रायः सभी को मालूम है। वह केवल एक रूपक है। उसका रहस्य कुछ और है। वहाँ समुद्र से मतलब अनादि ब्रह्म से है। यथार्थ समुद्र न तो मथा जा सकता है और न मथने से फेन के सिवा उससे रत्नों के निकलने की आशा है। मथने के सामान जो हैं—मेरु, कछुआ, शेष, ये भी मथने के काम नहीं आ सकते और मथने वाले दैत्य और देवता जैसे इस समय दुर्लभ हैं वैसे ही उस समय भी रहे होंगे। अगर ये आदमी की शकल के थे तो जैसे आदमी की शकल वालों के लिये इस समय समुद्र मथना असम्भव है, वैसे ही उस समय भी रहा होगा सच पूछिये तो बात यह भाव की है, भाव में समझने के लिये; वहीं इसका सत्य प्राप्त होता है। ब्रह्म-समुद्र को मथने वाले देवता और दैत्य भली और बुरी प्रकृति के रूपक हैं। जो चौदह रत्न निकलते हैं, हम देखते हैं, लक्ष्मी उनमें सर्व-श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार नारी की श्रेष्ठता सनातन प्रमाणित होती है। लक्ष्मी में दिव्य भाव तथा ऐश्वर्य के सभी गुण हैं। इसीलिये वे लक्ष्मी हैं। हम अपनी प्रत्येक गृहदेवी को गृहलक्ष्मी कह कर इन्हीं चिन्हों से संयुक्त करते हैं। यह बाहरी समादर या मर्यादा-दान नहीं, किन्तु प्रकृति के औचित्य की रक्षा है। हमने नारी को इसी महिमा में प्रत्यक्ष किया है।

अन्त: चौदह रत्नों में एक रत्न और है---उर्वशी। वह कला, गति और गीति की प्रतिमा है। इस उत्कर्ष में भी हम नारी को प्रत्यक्ष करते हैं।

लक्ष्मी और उर्वशी के गुण प्रत्येक स्त्री में मिले हुए हैं उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्म-समुद्र में वे एक साथ मिले हुए थे। उर्वशी के नाम से किसी किसी को हिचक हो सकती है। पर यह न समझने के कारण होगी। जिस प्रकार प्रत्येक रागिनी का चित्र खींचा गया है उसी प्रकार उर्वशी गीति और गति की प्रतिमा है। प्रत्येक स्त्री में एक प्रिया-भाव है जिससे वह पति का मनोरञ्जन करती है। इस भाव का भोक्ता संसार में केवल उसका पति है। यह उर्वशी का भाव है। प्रिया-भाव में गीति और गति के साथ रचना भी आती है, वह ललित वाक्य-रचना हो या छन्द रचना। यह शब्दों के साथ भी मिली हुई है और ताल के साथ भी। शब्दों के साथ वह काव्य है और ताल के साथ नृत्य। उर्वशी के इसी भाव का आरोप देवी सरस्वती पर किया गया है इसलिये कि भाव में शुद्धता रहे। पर जैसा पहले कहा गया है, प्रिया-भाव की प्रधानता के लिये यहाँ उर्वशी ही आती है। शृंगार के सौंदर्य-बोध में भी इस अप्सरा-भाव का प्राधान्य है। लक्ष्मी से नारी की महिमा व्यंजित होती है। जिस सुलक्षणता से वह गृह की कर्त्री है, ऐश्वर्य को स्थितिशील करती है, दूसरों को भोजन-पान और स्नेह देकर तृप्त करती है और गृह के समस्त वातावरण को शान्ति से ढके हुए, चारुता देती हुई वह पति तथा दूसरों की दृष्टि में महिमा-मूर्ति बनकर आती है, वह उसका लक्ष्मी-भाव है। रक्षा, सेवा आदि

इसके अन्तर्गत हैं। इसी का विकास मातृत्व में होता है। विश्व का पालन करने वाले विष्णु की शक्ति लक्ष्मी इसी मातृत्व में पूर्णत्व प्राप्त करती हैं।

पहले भारत ने जिस तरह उन्नति की थी, अब वह तरह बदल गई है। पहले की बातों में मनुष्यता की एक अनुभूति मिलती है। वहाँ शांति है और आनन्दपूर्वक निर्वाह। स्त्री और पुरुष दोनों अपनी अपनी विशेषता से गढ़ते हुए, समाज में मर्यादित रहकर, अनेक प्रकार के उत्कर्ष के चिन्ह अपनी सन्तानों के समक्ष छोड़ते हुए, आनन्द के भीतर से मुक्ति को प्राप्त करते हैं। गृह के भीतर स्त्री है; बाहर पुरुष; दोनों अपने स्वत्व और धर्म की रक्षा में तत्पर। अब वह बात नहीं रही, जहाँ तक पश्चिम के विकास की रूप-रेखा है। एक बड़े विद्वान का कहना है कि अब गृह का स्थान होटल और क्लबों ने ले लिया है और स्त्री-पुरुष के सप्रेम समझौते की जगह प्रतिद्वन्द्विता ने। स्त्री और पुरुष की प्रकृति के अनुसार दोनों के कामों में अधिकार भेद वाली बात नहीं रह गई। फल यह हुआ है कि जो देश आधुनिक भावों से समुन्नत कहलाते हैं वे इस स्त्री-पुरुष-युद्ध में न घर में शान्ति पाते हैं न बाहर। प्रणय प्रतिपल कलह है, कला बाजार की वस्तु बनी हुई है, जहाँ चमकदमक अधिक, टिकाऊपन कम; नृत्य और गीत रङ्गशालाओं के लिये हैं जहाँ इतर-आवेश अधिक और दिव्यता थोड़ी। इस विशृङ्खला का सारा कारण है पश्चिम का भौतिक उत्कर्ष। यह स्वाभाविक बात है, कि केवल संसार की ओर ध्यान देने पर उस पर ईश्वरी प्रहार होगा जिससे उसकी नश्वरता प्रति क्षण सिद्ध होती रहेगी। भारत

ने संसार की ओर ध्यान दिया था ईश्वर से संयुक्त होकर। इससे उसकी सांसारिक चारुता में भी नैसर्गिक छाप है।

यदि हमें प्रत्येक बात में योरप का अनुकरण करना पड़े तो इससे बढ़कर हमारी दुर्बलता, हमारी अमौलिकता का दूसरा प्रमाण न होगा। इसमें संदेह नहीं कि वहाँ हमारे सीखने योग्य बहुत सी बातें हैं और हमें; भारतीय होने के कारण, वहाँ के गुण श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने में संकोच न होना चाहिये, पर यदि हम उन गुणों को, उन वस्तु-विषयों को, अपने अनुरूप न बना सके, उन्हें अपने साँचे में न ढाल सके तो यह हमारे लिये अपनी विशेषता से अलग होना होगा। इससे बढ़कर हमारी दूसरी हार न होगी। युद्ध की हार उतनी बड़ी नहीं जितनी बड़ी बुद्धि और संस्कृति की हार है।

रात का समय सब भूमियों पर आता है। भारत की भूमि पर शताब्दियों से रात है। इस समय स्त्री-समाज पर जो पाशविक अत्याचार यहाँ हुए हैं उन्हें पढ़कर रोमांच होता है, साथ-साथ यह दृढ़ता भी आती है कि इतने दिनों तक दलित होता हुआ भी भारत अपने विशेषत्व से रहित निष्प्राण नहीं हुआ—उसमें कोई अद्भुत जीवनी शक्ति अवश्य थी। हमें इसी जीवनी शक्ति का उद्बोधन करना है। इस शक्ति ने भारत की स्त्रियों को किस साँचे में ढाला है, इसके सहस्रों प्रमाण हैं और यह रूप अन्य देशों में बहुत कम प्राप्त होगा।

जिस क्षिप्रता और स्फूर्ति के लिये विदेशी महिलाएँ प्रसिद्ध हैं सांसारिक कार्यों तथा क्रय-विक्रय में प्रवीण, वह यहाँ की

महिलाओं की पहली विशेषता थी। समय के अनेकानेक प्रहारों ने उन्हें निश्चेष्ट कर दिया है; स्त्री और पुरुष दोनों देह और मन की सहज गति से रहित हो गये हैं; पर वास्तव में वे ऐसे न थे। आध्यात्मिकता के मानी ही हैं लघु से लघुतर होना—जड़त्व से वर्जित होना कला और कौशल के लिये यह पहली बात है कि गति अत्यन्त लघु, ललित और उचित शक्ति से भरी हो।

कला अपने नाम से नारी-स्वभावकी सूचना देती है उसकी कोमलता और विकास में महिलाओं की प्रकृति है। पुनः उसकी अधिकांश उपयोगिता गृह के भीतर है। इसलिये वह महिलाओं की ही है, इसमें सन्देह नहीं। गृह के बाहर विशाल संसार में चलने-फिरने की शक्ति गृह के भीतर है। यदि भीतर से मनुष्य अशक्त रहा तो बाहर सफल नहीं हो सकता। भीतर के सम्पूर्ण अधिकार स्त्रियों के हैं। घर का भीतरी हिस्सा देखने में छोटा होने पर भी महत्व में बाहरी हिस्से से कम नहीं, बल्कि गृह धर्म के विचार से बढ़कर है। इसकी चारुता, आवश्यक, छोटी-मोटी वस्तुओं का निर्माण जिनकी कमी हम बाजार से पूरी कर दूसरे देशों को धनवान करते हैं, रँगाई, सिलाई-बुनाई आदि सुई के भिन्न-भिन्न कार्य, गीत-वाद्य-नृत्य, शब्द-रचना अलङ्कार-निर्माण, चित्रकारी, पाकशास्त्र इतना ही नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न अङ्गों का गृह-विज्ञान, चिकित्सा आदि स्त्रियों में विकसित रूप प्राप्त करें, इनके द्वारा वे संसार के ज्ञान से समृद्धि हों गृह के साथ देश और विश्व से संयुक्त हों, इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। कला के विकास के साथ देवियों की आत्मा का विकास हो। और भारत के प्राचीन दिव्य शक्ति का प्रबोधन;

भारतीयों के लिये उन्नयन का इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। देवियों की कला में उनकी दिव्य विभूति की पड़ी हुई छाप विश्व को अपनी श्रेष्ठता का परिचय दे।

वर्णाश्रम-धर्म
की
वर्तमान स्थिति

"जड़वाद के इन्द्रजाल से भारत का अध्यात्मवाद समाच्छन्न सा हो रहा है। प्रत्येक गृह से विकार-ग्रस्त रोगियों की अर्थहीन प्रलय-वाणी सुनाई पड़ रही है। कोई भी चेला नहीं बनना चाहता, गुरु बन कर शिक्षा देने के लिये सब तैयार हैं। भावों के सहस्र-सहस्र प्रतिघात प्रतिदिन टक्करें ले रहे हैं। एक दूसरे से लड़ते और मुरझा कर फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं।"

'ननिवसेत् म्लेच्छ राज्ये'—इस अनुशासन-वाक्य से साफ़ ज़ाहिर हो रहा है कि दुराचरणों से पतित म्लेच्छों का विस्तार उनके अनुशासन काल में भी काफ़ी हो चुका था, चाहे वह भारतवर्ष की आधुनिक सीमा से बाहर ही हुआ हो। सृष्टि के दार्शनिक सिद्धान्त के मानने वाले निस्संदेह कहेंगे—दैव और आसुर भावों की सृष्टि एक साथ ही हुई थी। सृष्टि कभी बिल्कुल पवित्र नहीं होती। सृष्टि के चित्र-काव्य के दिखलाने वाले यहाँ के लोगों ने दिति और अदिति को एक ही कश्यप की पत्नी बनाकर अपनी सूक्ष्मदर्शिता में कमाल कर दिखाया है; इस तरह प्रत्येक सृष्टि के अन्दर आसुर भाव का कुछ-न-कुछ अंश रहना सिद्ध होता है। इधर रामायण के रचयिता ने भी इसी सत्य की रक्षा के लिए सीता जैसी 'हरि हर ब्रह्मादिभिर्वंदिता' नारीकुल-शिरोमणि के चरित्र-चित्रण में ज़रा-सा दाग़ दिखलाया है, लक्ष्मण के प्रति उनसे कटु प्रयोग करा कर। ऐसा न करते तो सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के विवेचन में सीता का चरित्र अधूरा समझा जाता। बात यह कि कोई सृष्टि निष्कलुष नहीं हो सकती।

परन्तु मुक्ति के विवेचन में ज़रा-सा भी कलुष पहाड़ के समान बाधक है—"अवधू, अमल करै सो पावै।" असत् या कलुष ही पुन-

जन्म का कारण है—संस्कार और शरीर-धारण असत् के ही आश्रय से सम्भव हैं। शुद्ध सत्ता निर्बीज है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय के नियम उसमें नहीं।

समाज जब तक गतिशील है, सृष्टि के नियमों में बँधा है, तब तक वह निष्कलुष नहीं, कारण वही, सृष्टि सदोष है। परन्तु चूँकि समाज निर्मलत्व की ओर गतिशील है, इसीलिए उसके अंगों से हर तरह के कलुष के निकालने की चेष्टाएँ की गई हैं। इसीलिए समाज शासकों ने अनेकानेक विधानों द्वारा उसे बचाने का प्रयत्न किया है।

दोषों में संस्पर्श दोष भी एक माना गया है। इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। विषय के संस्पर्श से ही मनुष्य में विषय की वृत्ति पैदा होती है। इसी तरह म्लेच्छों के राज्य में रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातीयत्व भी नष्ट होता है, दुराचरण फैलते हैं, समाज की अधोगति होती है, वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह जाता। इसी विचार से द्विजातियों को म्लेच्छों के राज्य में रहने से निषेध किया गया।

यहाँ तक तो यह म्लेच्छों के राज्य में न रहने के अनुशासन की एक ज़रा-सी व्याख्या हुई। प्रश्न असल यह है कि हज़ार वर्षों से म्लेच्छों के राज्य में बसकर जीवित रहने वाली, अनेक कुसंस्कारों की खान यह अपने लिए परम पावन द्विज-जाति अब तक द्विजाति ही बनी हुई है या नहीं।

जो लोग सृष्टि के 'जन्म और मृत्यु' इन दोनों रहस्यों को भली भाँति जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि दिन और रात के जोड़े की तरह उत्थान और पतन का भी विवर्तन एक चिरंतन सत्य है। इस

सत्य के बंधन से मुक्त होकर उन्नतिशील द्विज-जाति कभी पतन की अवस्था को प्राप्त होगी ही नहीं, यह कहना या किसी अन्य युक्ति से चिरंतन द्विजत्व की पुष्टि करना एक प्रकार की कठहुज्जती करना ही है।

वर्ण व्यवस्था पर जितने लेख निकले हैं उनमें से कोई भी लेख ऐसा नहीं, जो विवर्तित समय की मौलिकता या नवीन युग का यथार्थ भाव समझाता हुआ वर्ण व्यवस्था की एक विचार-पुष्ट व्याख्या कर रहा हो। सबके सब अपनी ही धुन में लीन, अपने ही अधिकार के प्रतिपादन में नियोजित हो रहे हैं। शूद्रों के प्रति केवल सहानुभूति-प्रदर्शन कर देने से ब्राह्मण धर्म की कर्तव्यपरता समाप्त नहीं हो जाती, न 'जाति पांति तोड़क मंडल' के मंत्री संतराम जी के क़रार देने से इधर दो हज़ार वर्ष के अन्दर का संसार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान महामेधावी त्यागीश्वर शंकर शूद्रों के यथार्थ शत्रु सिद्ध हो सकते हैं। शूद्रों के प्रति उनके अनुशासन, कठोर से कठोर होने पर भी, अपने समय की मर्य्यादा से दृढ़ संबद्ध है। ख़ैर, वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए जिस "जायते वर्ण संकर:" की तरह के अनेकानेक प्रमाण उद्धृत किए गए हैं उनकी सार्थकता इस समय मुझे तो कुछ भी नहीं देख पड़ती, न "जाति-पांति-तोड़क मंडल" की ही विशेष कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। "जाति-पांति-तोड़क मंडल" को मैं किसी हद तक सार्थक समझता, यदि वह "जाति-पांति-योजक मंडल" होता। 'तोड़' ही हिन्दुस्तान को तोड़ रहा है। देश या जाति में आवश्यकता उस समय उठती है, जब किसी भाव,

संगठन या कृति का अभाव होता है। जाति-पाँति तोड़ने का अभाव एक समय इस देश में हुआ था ज़रूर, पर वह ब्राह्म-समाज द्वारा बड़ी अच्छी तरह पूरा किया जा चुका है। ब्राह्म-समाज के रहते हुए संतराम जी आदिकों ने 'मंडल' की स्थापना क्यों की, ब्राह्म-समाज की ही एक शाखा क़ायम क्यों नहीं कर ली, इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा, यह अनुमान से बहुत कुछ समझ में आ रहा है। यहाँ खड़ा होता है व्यक्तित्व और कुछ भेद। भाई जी के व्यक्तित्व को देश में ऐसा मनुष्य कौन होगा, जो आदर-पूर्वक न देखता हो और उनके व्यक्तित्व से जिस कार्य का संगठन होगा, उसे पृष्ठ-भूमि न मानता हो। परंतु यह बात और है। इस लेख का उद्देश्य है, वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान सार्थकता, जिसमें एक ओर जाति-पाँति तोड़क मंडल के व्यक्तित्व तक आया गया है; दूसरी ओर है प्राचीन हिन्दू-समाज, जिसकी संकीर्णता तथा अनुदारता की तरफ़ इशारा करके ही अनेकानेक समाज उसके अंग से छूटकर अलग हो गए हैं।

जब विचार की पहुँच किसी तरह सत्य तक हो जाती है, उस समय मस्तिष्क की तमाम विशृंखलाएँ दूर हो जाती हैं। ज़रा देर के लिए एक प्रकार की शांति मिलती है। भारतवर्ष को मुक्ति की ओर ले जाने वाले आज तक जितने भी विचार देखने में आए हैं, वे राज-नीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक किसी भी दिशा में झुकाए गए हों, वैदान्तिक विचार की समता नहीं कर सकते। कोई भी 'मंडल' ऐसा नहीं, जिसमें कोई न कोई दोष न हो। कोई वाद ऐसा नहीं, जो जाति, देश या समाज को पूर्ण स्वतंत्रता तक

पहुँचा सके—जहाँ किसी प्रकार का विरोध न हो। भारतवर्ष की समाज-शृंखला उसी वैदान्तिक धातु से मज़बूत की गई है। कोई वर्णाश्रम-धर्म को माने या न माने, पर अपनी प्रगति की व्याख्या में यदि वह वेदान्त को भी नहीं मानता, जैसा कि आजकल अधिकांश शिक्षितों की शिरश्चरण-विहीन युक्तियों में देखा जाता है, तो वह भारतीय कहलाने का दावा नहीं कर सकता। पहले भाई जी के संबन्ध में व्यक्तित्व का ज़िक्र आ चुका है। यहाँ यह कहना पड़ता है कि वैदान्तिक सत्यदर्शन की ओर जो जितना बढ़ा हुआ है, उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्व-पूर्ण और अक्षय है। दूसरे, वैदान्तिक विचार भारतीय होने के अलावा एक दूसरे से संयोग करने वाले होते हैं, तोड़क नहीं। केवल भारत के लिए ही नहीं, तमाम संसार के मनुष्यों के लिए एक दूसरे से संयोग ही आवश्यक है, वियोग नहीं। यदि हर मनुष्य से वियोग या तोड़न जारी रहा, तो यह जाति, देश या समाज के लिये कल्याणकर कब हो सकता है? योरप से भारतवर्ष की महत्ता में इतना ही फ़र्क है। योरप में प्रजा-विप्लव से लेकर आज तक जितने भी परिवर्तन हुए हैं, सब-के-सब तोड़क ही रहे हैं। यानी 'इसे नष्ट करो, तो यह दुरुस्त होगा'—इस विचार के आधार पर हुए हैं। इस तोड़क भाव का प्राधान्य वहाँ इसलिए है कि वहाँ के लोग भोग-वादी हैं। उनके भोग में जहाँ कहीं कोई ठेस लगी कि उनका धैर्य जाता रहा—विद्रोह खड़ा होगया, और उसी के बल पर जो सुधार होना था, हुआ। वहाँ की बाह्य प्रकृति के साथ संबद्ध मनुष्यों के मन की विचार-धारा भी यहाँ वालों की विचार-धारा के अननुकूल

है। यह देश त्यागवादी हैं। पिता-पुत्र, पति-पत्नी से लेकर गुरु-शिष्य और सन्यासियों में त्याग का ही आदर्श फैला हुआ है। यहाँ जीवन है अमृतत्व, जो त्याग ही से प्राप्त होता है। इस अमृत का जो जितना ही बड़ा अधिकारी है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही महान् होगा और यह व्यक्तित्व घातक या तोड़क नहीं होता, किन्तु संयोजक हुआ करता है। इसे ही वैदान्तिक साम्य-दर्शन कहते हैं।

जिस तरह किसी मनुष्य-विशेष का व्यक्तित्व होता है, उसी तरह समाज का भी एक व्यापक व्यक्तित्व हुआ करता है। समाज के इस व्यापक व्यक्तित्व को, युक्ति के अनुसार, अनार्य भावों द्वारा धक्का पहुँचता है, जिस तरह एक विशिष्ट व्यक्तित्व को भीतरी इतर वृत्तियों द्वारा। यहाँ के समाज-शासकों ने जो कठोर-से-कठोर नियम शूद्रों के लिए बनाए हैं, उसका कारण यह नहीं कि वे निर्दय थे, और अपने अधिकारों को बढ़ाते रहना ही उनका ध्येय था। यदि हिन्दू-नामधारी किसी मनुष्य के मुख से उनपर इस तरह के अपराध का लाञ्छन लगाया जाता है, तो चाहे वे महात्मा जी हों या भाई जी या सन्तराम जी या कोई भी प्रतिष्ठित पुरुष, मैं निस्संदेह कहूँगा, आपने हिन्दू-धर्म की केवल कुछ पुस्तकें ही देखी है, किन्तु उसकी व्याख्या करने की शक्ति आप में नहीं है, आप उसके रहस्यों को नहीं समझते। एक बालक को राह पर लाने के लिए कभी तिरस्कार की भी ज़रूरत होती है, पर समझदार के लिए सिर्फ़ इशारा काफ़ी कहा गया है। बालक फिर भूल जाता है, फिर प्रवृत्ति के वशीभूत होकर असत्पथ की ओर जाता है, पर समझदार से बार-बार ग़लती नहीं होती। तत्कालीन एक ब्राह्मण का उत्कर्ष

और एक शूद्र का बराबर नहीं हो सकता। अतएव दोनों के दंड भी बराबर नहीं हो सकते। लघु दण्ड से शूद्रों की बुद्धि भी ठिकाने न आती। दूसरे, शूद्रों से ज़रा-से उपकार पर सहस्र-सहस्र अपकार होते थे। उनके दूषित बीजाणु तत्कालीन समाज के मंगलमय शरीर को अस्वस्थ करते थे—उनकी इतर वृत्तियों के प्रतिघात प्रतिदिन और प्रतिमुहूर्त समाज को सहना पड़ता था। निष्कलुष हो कर मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होने वाले शुद्ध-परमाणुकाय समाज को शूद्रों से कितना बड़ा नुक़सान पहुँचता था, यह 'मण्डल' के सदस्य समझते, यदि वे भोगवादी, अधिकारवादी, मानवादी—इस तरह जड़वादी न होकर, त्यागवादी या अध्यात्मवादी होते। इतने पीड़नों को सहते हुए अपने ज़रा से बचाव के लिए—आदर्श की रक्षा के लिए—समाज को पतन से बचाने के लिए अगर द्विज-समाज ने शूद्रों के प्रति कुछ कठोर अनुशासन कर भी दिए, तो हिसाब में शूद्रों द्वारा किए गए अत्याचार द्विज-समाज को अधिक सहने पड़े थे, या द्विज-समाज द्वारा किए गए शूद्रों को? उस समय भारतवर्ष का ध्यान अधिकार की ओर नहीं था। यह कहा जा चुका है कि समाज की प्रत्येक आज्ञा सत्य से संबंध रखकर दी जाती थी। यहाँ के समाज-पतियों के चरित्र की छानबीन करके उन पर लांछन लगाना होगा। शंकर को क्या पड़ी थी, जो शूद्रों को हीन और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ बतलाते? उन्हें न तो ब्राह्मणों से कुछ लाभ ही था, न शूद्रों से कोई नुक़सान। एक विरक्त और इतने बड़े त्यागी पर लांछन लगाना क्या शूद्रत्व के समर्थकों की मानसिक दुर्बलता का ही परिचय नहीं?

अपितु, इस तरह यह सिद्ध करना कि शंकर को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई थी, ब्रह्म के दर्शन नहीं हुए थे; ब्रह्म के दर्शन करने वाला महापुरुष किसी का शत्रु और किसी का मित्र होता है—द्वैत भाव रखता है, यह संतराम जी ही कह सकते हैं। और जो पीपल, ताज़िया आदि के पूजकों का मखौल उड़ाया गया है, यह भी सिद्ध करता है लेखक को अध्यात्मवाद का कुछ भी ज्ञान नहीं। यदि प्रह्लाद को खंभे में श्री भगवान की मूर्ति दिखलाई पड़ती है, तो पीपल-पूजकों ने ही कौन-सा बड़ा कुसूर कर डाला? ईश्वर किस केन्द्र में नहीं है? ताज़िया पूजना भी हिन्दुओं की उदार पूजा की भावना का ही परिचय देता है, जहाँ हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं—ईश्वर की अभेदता ज़ाहिर है। शंकर ने जो अनुशासन दिए है, वे अधिकारियों के विचार से ही दिए गए हैं। न शूद्रों ने अपने इतर कर्मों को छोड़ा, न वे उठ सके। जो उदाहरण शूद्रों के मिलाने के मिलते हैं, उनमें यही ज़ाहिर है कि उनके हृदय में श्रद्धा आई थी, वे अनार्य से आर्य हुए थे, और आर्यों ने उन्हें अपनाया था। फिर कहना न होगा, जब सत्कार्यों का भार उनसे उठाया न उठा, तब रामदास और वशिष्ठ के नाम पर खड़े किए गए उस समाज ने अपनी पूर्व मृपिकत्व की संज्ञा फिर से प्राप्त कर ली। उनके लिए ऐसा कहना उचित नहीं कि वे गिरा दिए गए, बल्कि यों कहिए कि वे आप गिर गए। इस गिरने में हिन्दू-समाज के द्विजत्व का क्या कुसूर? यहाँ के समाज का तो मूल मंत्र ही रहा है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत'

पारसी-जैसी दूसरी जाति को जिस जाति ने शरण दी; उस जाति के गौरव ब्राह्मणों ने अंत्यजों को गिरा दिया, यह सन्तराम जी ही कह सकते हैं, पर मेरे पास मौन के सिवा उनके प्रति इसके उत्तर में और कोई शब्द नहीं। क्या तमाम राजनीतिक अधिकार, मुसलमानों की तरह, हिन्दुस्तान की छाती पर रह कर भोग करना पारसियों के भी डंडे का ही फल है? जहाँ शूद्रों के प्रति स्मृतिकारों ने कठोर दण्ड की योजना की है, वहाँ उन्होंने यह भी लिखा है—"श्रद्धा-पूर्वक शुभ-विद्या, श्रेष्ठ धर्म और सुलक्षणा स्त्री अंत्यजों के निकट से भी ग्रहण करो।" इसका पुरस्कार उन्हें क्या दिया जा रहा है? क्या इन पंक्तियों में अंत्यजों के वहिष्कार या विरोध की कोई ध्वनि निकलती है?

सृष्टि की साम्यावस्था कभी नहीं रहती, तब अंत्यजों या शूद्रों की ही क्यों रहने लगी? ज्यों-ज्यों परिवर्तन का चक्र घूमता गया, त्यों-त्यों असीरियन सभ्यता के साथ एक नवीन शक्ति, एक नवीन वैदान्तिक साम्य-स्फूर्ति लेकर पैदा हुई, जिसके आश्रय में देखते-देखते आधा संसार आ गया। भारतवर्ष पर गत हज़ार वर्षों से उसी सभ्यता का प्रवाह बह रहा है। यहाँ की दिव्य शक्ति के भार से झुके हुए निम्न श्रेणियों के लोगों को उसकी सहायता से सिर उठाने का मौक़ा मिला—वे लोग मुसलमान हो गए। यहाँ की दिव्य सभ्यता आसुर सभ्यता से लड़ते-लड़ते क्रमशः दुर्बल हो गई थी, अन्त में उसने विकारग्रस्त रोगी की तरह विकलांग, विकृत-मस्तिष्क होकर अपने ही घर वालों से तर्क-वितर्क और लड़ाई-झगड़ों पर कमर कस ली। क्रोध अपनी ही दुर्बलता का परिचायक है, और अन्त तक आत्म नाश का कारण बन बैठता

है, उधर दुर्बल का जीवन भी क्रोध करना ही है, उसकी कोई व्याख्या भी नहीं। फलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-शक्ति पराभूत हो कर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। जब ग्रीक सभ्यता का दानवी प्रवाह गत दो शताब्दियों से आने लगा, दानवी माया अपने पूर्ण यौवन पर आ गई, हिन्दुस्तान पर अंगरेजों का शासन सुदृढ़ हो गया, विज्ञान के भौतिक करामात दिखाने आरम्भ कर दिए, उस समय ब्राह्मण-शक्ति तो पराभूत हो ही चुकी थी, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य-शक्ति भी पूर्णतः विजित हो गई। शिक्षा जो थी अँगरेजों के हाथ में गई, अस्त्र-विद्या अँगरेज़ों के अधिकार में रही, (अस्त्र ही छीन लिए गए, तब वह विद्या कहाँ रह गई है ? और वह क्षत्रियत्व भी विलीन हो गया।) व्यवसाय-कौशल भी अँगरेज़ों के हाथ में है। भारतवासियों के भाग्य में पड़ा शूद्रत्व। यहाँ की ब्राह्मण-वृत्ति में शूद्रत्व, क्षत्रिय-कर्म में शूद्रत्व और व्यवसाई जो विदेशों का माल बेचने वाले हैं कुछ और बढ़कर शूद्रत्व इख्तियार कर रहे हैं। अदालत में ब्राह्मण और चांडाल की एक ही हैसियत, एकही स्थान, एकही निर्णय। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने घर में ऐंठने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रह गए। बाहरी प्रतिघातों ने भारतवर्ष के उस समाज-शरीर को, उसके उस व्यक्तित्व को, समूल नष्ट कर दिया। बाह्य दृष्टि से उसका अस्तित्व ही न रह गया।

भारतवर्ष की तमाम सामाजिक शक्तियों का यह एकीकरण-काल शूद्रों और अंत्यजों के उठने का प्रभात-काल है। प्रकृति की यह

कैसी विचित्र क्रिया है, जिसने युगों तक शूद्रों से अपर तीन वर्णों की सेवा कराई और इस तरह उनमें एक अदम्य शक्ति का प्रवाह भरा, और अब अनेकानेक विवर्तनों से गुज़रती हुई, उठने के लिए उन्हें एक विचित्र ढंग से मौक़ा दिया है भारत वर्ष का यह युग शूद्रशक्ति के उत्थान का युग है और देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।

अगर शूद्र गालियों के बल पर, ब्राह्मणों से ईर्षा करके उठना चाहते हों तो यह उनकी समझ की कमज़ोरी है। इस तरह भारत की किसी भी जाति का संगठन सुदृढ़ नहीं रह सकता। कारण, कमज़ोर हुए ब्राह्मणों को गालियां देने से उठती हुई जाति तमाम ब्राह्मण-समाज पर विजय नहीं प्राप्त कर सकती। कायस्थों के समाज ने ब्राह्मणों के बहिष्कार के प्रस्ताव पास किए। पर इससे फल क्या हुआ? 'महाराज'—जैसी उपाधि का भोक्ता इस समय भी याचक ब्राह्मण ही हुआ करता है। पर लाला जी को समाज में कोई भी पण्डित जी नहीं कहता। दूसरे, ब्राह्मण को गालियाँ तो सभी देते हैं, पर ब्राह्मण बनने का इरादा कोई भी नवीन सङ्गठित जाति नहीं छोड़ती। इस तरह ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बढ़ती ही जाती है। लोगों में जैसे ब्राह्मणत्व का लालच बढ़ गया हो।

कुछ वर्षों पहले डलमऊ (रायबरेली) में अखिल भारतवर्षीय अहीर सभा थी। सौभाग्य से मैं भी वहाँ मौजूद था। भारत के सभी प्रान्तों से प्रत्येक भाई आए थे। कुछ अहीर कस्बे में दूध बेंचने गए। मैंने एक से पूछा—'क्यों जी, अब तो तुम चाहे अहीर से कुछ और

हो जाओ'। उसने कहा —"हाँ कहते हैं कि तुम छत्री हो। यह चाहे जौन कहैं, मुला दूध बेचै का मना करिहैं तौ हम भाई साफ़ कहि देब कि हम तौ दूध बेंचब बन्द ना करब चहै अपन जनेऊ उतरवाय लेय— को हमरे आस कै रारि म्वाल लेई।" बात यह कि उसे वह क्षत्रिय होना मंजूर नहीं जिससे दूध बेंचना बन्द हो जाय और परम्परा से वह सुनता आया है—उसका विश्वास भी दृढ़ है कि दूध बेचने वाला कभी क्षत्रिय नहीं होता—वह अहीर ही है, चाहे जनेऊ के तीन ताग नहीं और बारह ताग उसके गले में डाल दिये जायँ। अब सन्तराम जी सोचें, जहाँ अहीर, बढ़ई, कलवार और प्राय: सभी जातियाँ (जिनके सिर समाज ने निम्न जातीय भावना का भूत सवार कर रक्खा है) यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय बन सकती हैं, तो पानी भरने वाला या रोटी पकाने वाला ब्राह्मण फिर क्यों नहीं ब्राह्मण रह सकेगा—इस तरह तो उसे एक और बल मिल रहा है। जिसे वह कल बढ़ई कहता था, उसे ही अगर आज वह ब्राह्मण बनता हुआ देखे, तो वह इतना कमज़ोर हो जायगा कि दूसरों के मिस्त्री और बवर्ची कहने से वह अपने को मिस्त्री या बवर्ची समझे!

और ज़रा एक और मज़ेदार बात सुनिये। ब्राह्मण देवताओं का अपमान भी कम नहीं हो रहा। पहले के लिखे हुए अनुसार, पूरे चालीस वर्ष के बाद जनेऊ धारण कर अहीर-महासभा के यज्ञ कुंड से, निकले हुए हाल-क़ौम-क्षत्रिय, प्राचीन अहीर महाशय मेरी ससुराल से मेरे लड़के को ले जाने के लिए आए। मैंने सोचा, पुरानी प्रथा के अनुसार यह मेरे यहाँ की पकाई रोटियाँ अवश्य ही खायँगे। अस्तु,

उनके लिए मैंने वैसा ही इंतजाम करवाया। उस समय मेरा लड़का घर में न था। वह आया तो कहने लगा—'रोटियों का इंतज़ाम आपने व्यर्थ ही करवाया, नानी के यहाँ तो इसने पूड़ियाँ भी नहीं खाईं। मैंने पूछा—क्यों?' उसने कहा, 'यह कहता है, अब मेरा जनेऊ होगया है, अब मैं थोड़े ही कुछ खा सकता हूँ!' मैंने उस संस्कृत क्षत्रिय भाई से पूछा, तो बात सत्य निकली। मैंने उसके लिए मिठाई मँगवा दी।

"आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"।

इस बला को जब तक संतराम जी हिन्दू जाति की जड़ से नहीं निकाल सकेंगे, तब तक जाति पाँति के तोड़ने में उन्हें सफलता शायद ही हो। महात्मा जी का जो उदाहरण दिया कि उनकी राय से एक ब्राह्मण-बालिका का विवाह एक शूद्र कर सकता है, मेरे विचार से एक ब्राह्मण-बालिका के मानी यहाँ एक शूद्र-बालिका ही है। अगर ब्राह्मण-बालिका का अर्थ महात्मा जी ब्राह्मण-बालिका ही करते हों तो मैं सविनय कहूँगा, इतनी तपस्या करके भी महात्मा जी ब्राह्मण का अर्थ नहीं समझ सके। ब्राह्मण का तपस्या-जन्म अर्थ ही लेता हूँ, जो उसका उचित निर्णय है। मुझे इसका भय नहीं कि दूसरों की तरह मुझ पर संतराम जी ब्राह्मणत्व के पक्षपात का दोष लगाएँगे।

मैं यहाँ तक दिखला चुका हूँ कि समाज का व्यक्तित्व अब नहीं रहा। जड़वाद के इन्द्रजाल से भारत का अध्यात्मवाद समाच्छन्न सा हो रहा है। प्रत्येक गृह से विकार-ग्रस्त रोगियों की अर्थहीन प्रलाप वाणी सुनाई पड़ रही है। कोई भी चेला नहीं बनना चाहता, गुरु

बनकर शिक्षा देने के लिए सब तैयार हैं। भावों के सहस्र सहस्र प्रतिघात प्रतिदिन टक्करें ले रहे हैं। एक दूसरे से लड़ते और मुरझाकर फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं।

ऐसी हालत में सहस्र आवर्जनाओं के भीतर दबी हुई भारत की यथार्थ जातीय शक्ति को उभाड़कर प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा की तरह उसे जीवन देना एक अत्यंत कष्ट साध्य उपाय हो रहा है, परंतु साथ ही यह विश्वास भी है, जबकि यह भारत है तो जीवन स्वयं ही अपना आलोक-पथ खोज लेगा। पौदों की बाढ़ कम अंधकार या छाया की ओर नहीं हो सकती। समाज के व्यक्तित्व को क़ायम रखने के लिए पहले जो स्मृतियाँ—जो कानून प्रचलित थे, आज के लिए वे अनुकूल नहीं रहे। मुसलमान-शासन काल में तो भारत में संकीर्णता की हद हो गई थी, इस समय भी देहातों में इसी संकीर्णता का शासन है। परंतु है यह अज्ञानजन्य, और समाज में यह अज्ञान का राज्य शिक्षा के अभाव से ही फैला हुआ है। जब से वेद-वेदान्त योरप में छपने लगे, तबसे भारत के ज्ञान-वर्धन के लिए यह आवश्यक होगया कि उसके जातीय जीवन को रूढ़ियों और प्राचीन आचारों से मुक्त करदिया जाय, उसमें प्रसार के लिए ज्ञान के बृहत्-से-बृहत् संस्कार छोड़े जायँ, अन्यथा अपर जातियों के पदार्थ-विज्ञान की उच्चता से लड़कर वह स्थाई न हो सकेगा। पृथ्वी और सूर्य के उपाकर्षण की तरह बृहत् और उदार ज्ञान का आकर्षण जिस तरफ़ होगा, अधिक शक्ति वहीं पर निहित होगी; दूसरे ज्ञान की तुलना में उससे छोटे होंगे, उसी के चारों चक्कर काटते रहेंगे। भारत

की जातीयता को योरप के इस विज्ञान-युग की जातीयता से लड़ना है। परंतु इस समय उसके पास आचार-विचारात्मक ज्ञान के जो महास्त्र हैं वे योरप के वर्द्धनशील विज्ञान के सामने पराजित तथा अवनत हो रहे हैं। और, चूँकि पहले के कथन के अनुसार इस समय भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नहीं रहे—न इस अवस्था में रह सकते हैं, अतएव दास्यवृत्ति वाले भारत के लिए भौतिक विज्ञान से मुग्ध हो जाना—उसे आत्मसमर्पण कर देना निहायत स्वाभाविक है। योरप में यथार्थ वैश्य और यथार्थ क्षत्रिय तक हो गए हैं, और अवश्य कुछ ब्राह्मण भी हैं, यही कारण है कि इस शक्ति का सिक्का भारतवासियों पर जमा हुआ है।

वहाँ के ज्ञानास्त्र को काट कर अपनी निर्मल जातीयता के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक है वेदान्त-ज्ञान। वेदान्त-ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य की मनुष्य से यह इतनी बड़ी घृणा न रह जायगी और संगठन भी ज्ञान-मूलक होगा। योरप का संगठन स्वार्थ-मूलक है। यहाँ इस तरह के भाव कामयाब नहीं हो सकते। हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा भी इस तरह तय नहीं हो सकता। और तरह-तरह के विचार जो लड़ाए जाते हैं, वे संसार के विवर्तन से उधार लिए हुए विचार ही होते हैं। इससे अधिक पुष्ट विचार मेल के लिए और क्या होगा कि हर एक को अपनी आत्मा समझे, अपने सुख और अपने दुख का अनुभव दूसरे में करे। सन्तराम जी जो वैवाहिक व्यवस्था पेश करते हैं वह भी इस तरह मन के मेल से सम्भव हो सकेगी, जैसा कि पहले था। अन्यथा यदि महात्मा जी की तरह विवाह का एक सूत्र निकाल दिया

जायगा कि एक अछूत एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर सकता है, तो उत्तर में यह कहने वाले बहुत हैं कि एक ब्राह्मण-कन्या का किसी मुसलमान के साथ योरप जाना महात्मा जी ने ही रोका था और उसका विवाह एक दूसरे (शायद) ब्राह्मण से करवाया था। यदि हिन्दुओं की व्यापक जातीयता के लिये इस तरह के क़ानून निकाल देना न्यायानुकूल है, तो इसी भारतवर्ष की छाती के पीपल मुसलमानों से सप्रेम रोटी-बेटी का सम्बन्ध जोड़ लेने से कौन राष्ट्रीयता की नाक कटी जा रही है ? इस तरह तो स्वराज्य के हासिल करने में और शीघ्रता होगी फिर मुसलमानों के प्रिय बनने की चेष्टा करते हुए भी महात्मा जी ने क्या एक मुसलमान के निर्दोष सप्रेम विचरण में बाधा नहीं दी ? क्या उसका हक़ महात्मा जी ने नहीं छीन लिया ? इसी तरह शूद्रों और अछूतों के प्रति भी महात्मा जी की सहानुभूत मौखिक ही न होगी, इसका क्या प्रमाण, जब उनके यहाँ के विवाह अंत्यजों से न होकर, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आज तक उन्हीं की श्रेणी में हुए हैं ? महात्मा जी का विकास जिस तरफ़ से हुआ है, उसी तरफ के लिए उनके शब्द महान और सप्राण हैं। परन्तु वह एक धर्माचार्य भी हैं, स्मृतिकार भी हैं और अप्रतिद्वंदी शास्त्र-विख्याता भी हैं—यह उनके अनुयायी ही सिद्ध कर सकते हैं, मुझे कुछ संकोच हो रहा है। राम के बाण तो सह्य भी हैं पर बन्दरों की विकृत मुख-मुद्रा असह्य हो जाती है। विवाह के प्रसङ्ग पर मैंने जो कुछ लिखा है, मैं जानता हूँ, महात्मा जी की महत्ता से मुझे क्षमा मिल जायगी। मुझे केवल उनके भक्तों से ही भय है। कारण, भक्तों का परिचय मुझे कई बार प्रत्यक्ष हो चुका है।

अछूतों के साथ रोटी-बेटी संबंध स्थापित कर उन्हें समाज में मिला लिया जाय या इसके न होने के कारण ही एक विशाल संख्या हिंदू-राष्ट्रीयता से अलग है, यह एक कल्पना के सिवा कुछ नहीं। दो मनों की जो साम्य-स्थिति विवाह की बुनियाद है और प्रेम का कारण, इस तरह के विवाह में उसका सर्वथा अभाव ही रहेगा। और जिस योरप की वैवाहिक प्रथा की अनुकूलता संतराम जी ने की है, वहाँ भी यहीं की तरह वैषम्य का साम्राज्य है। किसी लार्ड-घराने की लड़की के साथ किसी निर्धन और निर्गुण मज़दूर का विवाह नहीं हुआ। मुसलमानों में भी विवाह का कुछ ऐसा प्रतिबंध नहीं, पर मोगल बादशाहज़ादियाँ क्वाँरी ही रहती थीं। कहीं यह साम्य अर्थ से लिया गया है, कहीं जाति से। यदि इस विवाह से ही हिंदुओं का उद्धार होना निश्चित है, तो यहाँ के मुसलमानों के उद्धार के लिए तो कोई शंका ही न करनी थी, पर दुःख है कि इस वैवाहिक एकता को अंशतः क़ायम रखने पर भी यहाँ उनके भाग्य किसी तरह भी हिन्दुओं के भाग्य से चमकीले नहीं नज़र आते।

और जो बुलबुलशाह की ऐतिहासिक दुर्घटना का संतराम जी ने उल्लेख किया है, इससे हमारे महाराज जयचंद ही क्या कम थे? एक बार एक बंगाली विद्वान ने एक दूसरे बंगाली से मेरी तारीफ़ करते हुए कहा—'यह महाशय उस देश में रहते हैं, जहाँ के महाराज जयचंद थे, जिनकी कृपा से देश हज़ार वर्ष से ग़ुलाम है।' आप समझ सकते हैं ऐसे चुभते हुए परिचय से उस समय मेरी क्या दशा हो गई होगी। पर मुझे भी इसका करारा उत्तर सूझ गया और वही संतराम

जी के लिए भी है। मैंने कहा—'लाखों वर्ष तक देश को स्वाधीन तथा संपन्न रखने का श्रेय आपने हमें नहीं दिया, पर हज़ार वर्ष के लिए गिरा देने का उलाहना दे डाला! जिन्होंने इसे स्वाधीन रक्खा था उन्हीं ने गिराया भी। गिराने के लिए दूसरे थोड़े ही आते।' इसी तरह, एक ब्राह्मण की ग़लती से बुलबुलशाह के भी लाखों भाई मुसलमान हो गए। पर बुलबुलशाह के भाई जब हिंदुस्तान में 'सितच्छत्रित कीर्ति मंडलाः' हो रहे थे, उस समय 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' की उस उलटी व्याख्या ने ही हिंदू-धर्म को मुसलमान-धर्म में विलीन होने से बचाया था। यदि उस समय मुसलमानों की धार्मिक उदारता के साथ ब्राह्मणों की वेदांतिक उदारता ने अभेदत्व का प्रचार किया होता, तो निस्संदेह इस समय हिंदू-धर्म के सुधार के लिए आवाज़ उठाने के कष्ट से संतराम जी बाल-बाल बच गए होते, और शायद हम लोग इस समय अपनी-अपनी दाढ़ियों में ख़ुदा का नूर देख कर प्रसन्न हो रहे होते।

ब्राह्मणों में भी भंगी, चरसी, शराबी और कबाबी हैं। पर इस लिए अंत्यजों से उनकी तुलना नहीं हो सकती। एक तो संख्या में कम ऐसे ब्राह्मण हैं और अंत्यज अधिक। दूसरे, तुलना यह इस तरह की है जैसे करोड़पति के ऐयाश-दिल लड़के से किसी मज़दूर के ऐयाश-दिल लड़के की। लेख बढ़ रहा है, मुझे सब बातों के उत्तर देने का स्थान नहीं।

इस व्यापक शूद्रत्व के भीतर भी इस जाति के प्रदीप में जो कुछ ज्योति है, वह आचार, शील और ईश्वर-परायण लोगों में ही

है। दूसरे-दूसरे देशों में धार्मिक कट्टरता भले ही राष्ट्र की जागृति से दूर कर दी गई हो, पर वहाँ धर्म से कट्टरता ही प्रधान थी, जिसके कारण यह फल हुआ है। यहाँ धर्म ही जीवन है और उसकी व्याख्या भी बड़ी विशद है। यहाँ उसके व्यक्तित्व के बढ़ाने का उपाय है—शिक्षा का सार्वभौमिक प्रसार। अँगरेजी स्कूलों और कालेजों में जो शिक्षा मिलती है, उससे दैन्य ही बढ़ता है और अपना अस्तित्व भी खो जाता है। बी०ए० पास करके झींगुर लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे, तो संतराम जी की ही तरह उन्हें हास्यास्पद होना पड़ेगा। पर महात्मा जी की तरह त्याग के मार्ग पर अग्रसर होने वाले के सामने आप ही ब्राह्मणों के मस्तक श्रद्धा से झुक जाया करेंगे। भारतीय शिक्षा के प्रसार के साथ ही शूद्रों तथा अन्त्यजों में शुभाचरण के कुछ संस्कार जाग्रत किए जायँ। दूसरी-दूसरी जातियाँ जिस तरह ब्राह्मण और क्षत्रिय बन रही हैं, उसी तरह उन्हें भी एक कोठे में डाल दिया जाय। यह तो हुआ एक प्रकार का संगठन। रही बात, पूर्ण वैदांतिक व्यक्तित्व की, सो वह विशाल व्यक्तित्व एक दिन में नहीं प्राप्त हो सकता वह तो भारत के सत्य-युग के लिए ही संभव है। परंतु उन्नति का लक्ष्य वही होना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातियाँ देश की रक्षा के लिए बहुत लड़ चुकी हैं। अब कुछ शुभ संस्कारों के सिवा उनके पास कुछ नहीं रह गया। उठने वाली जातियों को विरासत में उन्हीं गुणों, उन्हीं महास्त्रों का ग्रहण करना होगा। वृद्ध भारत की वृद्ध जातियों की जगह धीरे धीरे नवीन भारत की नवीन जातियों का शुभागमन हो, इसके लिए प्रकृति ने वायुमंडल

तैयार कर दिया है। यदि प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातियाँ उनके उठने में सहायक न होंगी, तो जातीय समर में अवश्य ही उन्हें नीचा देखना होगा। क्रमशः यही अंत्यज और शूद्र, यज्ञकुंड से निकले हुए अदम्य क्षत्रियों की तरह, अपनी चिरकाल की प्रसुप्त प्रतिभा की नवीन स्फूर्ति से देश में एक अलौकिक जीवन का संचार करेंगे। इन्हीं की अजेय शक्ति भविष्य में भारत को स्वतंत्र करेगी। अभी देश में वैश्य-शक्ति का ही उत्थान नहीं हुआ महात्मा जी जिसके अग्रदूत हैं; फिर क्षत्रिय और ब्राह्मण शक्ति की बात ही क्या? पर देश की स्वतंत्रता के लिए इन चारों शक्तियों की नवीन स्फूर्ति, इनका नवीन सम्मेलन अनिवार्य है, और तब कहीं उस संगठित नवीन राष्ट्र में वेदोक्त साम्य की यथार्थ प्रतिष्ठा हो सकेगी।

बहता हुआ फूल

"अनुवाद का सत्य वही समझता है, मौलिक ग्रन्थ का चमत्कार उसी की दृष्टि में अपनी शोभनीय सृष्टि रखता है, अनुवाद और मूल दोनों की भाषाओं पर जिसका पूर्ण अधिकार हो।'

रूप नारायण जी को बंगला से अनुवाद करने में बहुत कुछ प्रशंसा मिल चुकी है; परन्तु हमारा विश्वास है कि रूप नारायण जी के अनुवाद की जब जाँच की जायगी तो जितनी उनकी अनुवाद के कारण प्रशंसा हुई है, उतनी ही निन्दा भी होगी, क्योंकि आपका अनुवाद ऐसा ही दोष दुष्ट होता है। अनुवाद का सत्य वही समझता है, मौलिक ग्रन्थ का चमत्कार उसी की दृष्टि में अपनी शोभनीय सृष्टि रखता है, अनुवाद और मूल दोनों की भाषाओं पर जिसका पूर्ण अधिकार हो। पाठकों को चाहिये कि हिन्दी की मौलिक अधूरी पुस्तकें पढ़ें, पर अनुवाद कभी न पढ़ें और जिन लोगों को अनुवाद करने का रोग है, वे अनुवाद करके जीविकार्जन भले ही करते रहें, परन्तु हिन्दी-संसार उन्हें पेट पालने वाले अनुवादक ही समझें, उनके सिर पर साहित्य-सेवा और हिन्दी के प्रभूत उपकार की पगड़ी लपेट कर, उन्हें सातवें आसमान पर चढ़ाने की उदारता न दिखावें। इससे हिन्दी माता का कितना अपमान होता है—दूसरे प्रान्त के लोगों के सामने हिन्दी सेवियों को किस तरह आँखें नीची करनी पड़ती हैं, जब अनुवादकों की प्रशंसा पर घृणा करके दूसरे प्रान्तों के लोग अपनी भाषा, अपने ग्रन्थ और अपने लेखकों की प्रशंसा करते हुए हिन्दी सेवकों को हास्यमिश्रित नीच तिरस्कार की दृष्टि से

देखने लगते हैं तब बिचारे निर्दोष साहित्यिकों की क्या दशा होती है, यह वही समझते हैं जिनपर कभी ऐसी विपत्ति एकाएक टूट पड़ती है! हिन्दी-साहित्य-संसार से हम विनय पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वह एक साधारण मूल पुस्तक के लेखक की जितनी प्रशंसा करें उसका शतांश भी अनुवादक की न करें। जब तक उसके हृदय में इस भाव की जड़ नहीं जम जायगी तब तक उसे साहित्य के अपर क्षेत्र में हमेशा नीचा, देखना पड़ेगा। मूल लेखक की कृति साधारण होने पर भी, हिन्दी के लिए अपनी चीज़ है। उसमें सुचारु रूप से प्रतिबिम्बित न होने पर भी जिस चित्र की अस्पष्ट झलक देख पड़ती है, उससे अपने ही स्वरूप का पता चलता है, उसी को देखकर हम अपना स्वरुप सुधार सकते हैं; हमारा शृंगार उसी के द्वारा सँवर सकता है। अतएव पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर न होने पर भी यदि मौलिक है तो उसके लेखक की जितनी प्रशंसा होनी चाहिये, वह जितनी सम्मान प्राप्ति का अधिकारी है, एक अनुवादक उसके शतांश का भी नहीं। पर इससे हम यह नहीं कहते कि अनुवाद होना ही नहीं चाहिए, नहीं, अनुवाद की आवश्यकता तो हर एक साहित्य में होती है और बिना अनुवाद के एक साहित्य दूसरे साहित्य की राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि ज्ञान की भिन्न २ शाखाओं से परिचित हो ही नहीं सकता, अधिकन्तु संसार प्रगति से अज्ञ बना रहता है। अतएव हिन्दी में भी अनुवाद की आवश्यकता है। परन्तु अब तक इस आवश्यकता की पूर्ति जिस उपाय से होती रही है, उसमें कुछ परिवर्तन होना चाहिये। काशी की नागरी प्रचारिणी

सभा जैसी प्रतिष्ठित संस्थायें योग्य मनुष्य चुन कर अनुवाद का काम करावें तो उस अनुवाद पर विद्वन्मण्डली का विश्वास भी हो और साहित्य से गन्दगी भी दूर हो। हमें विश्वास है, हिन्दी के आचार्य, संस्थाओं के सञ्चालक, हिन्दी के प्रकाशक और हिन्दी के लेखक हमारी प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

सच्चा अनुवाद करने के लिए कितने बड़े ज्ञान की आवश्यकता है, यह वही समझते हैं जो भाषा विज्ञान के अधिकारी कहलाते हैं। जिन्हें शुद्ध अपनी भाषा भी लिखना नहीं आता वे यदि दूसरी भाषा के आचार्य बने घूमें, तो उनकी इस अहमन्यता को सच्चे मर्मज्ञ क्या समझेंगे उन्हें इसका भी खयाल नहीं होता।

मूल के साथ रूप नारायण जी के अनुवाद के कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

मूल में है:--'रानी बोलिलेन—ना ना विपिन आमार सोनार चांद छेले, ओर शरीरे एतोटुकु दोष नाई। इसका अनुवाद है बड़ी बहू ने कहा--'ना ना मेरा विपिन वैसा लड़का नहीं है वह हजार दो हजार में एक लड़का है। उसके चालचलन में रत्ती भर दोष नहीं।'

यहाँ रूप नारयण जी का 'ना ना' अशुद्ध और देहाती है। शुद्ध हिन्दी के अनुसार 'नहीं नहीं' होना चाहिये। कुछ लोग ऐसे स्थलों में 'ना' का प्रयोग करते हैं, परन्तु है यह बड़ा भद्दा प्रयोग। यहाँ दूसरी जगह भी पाण्डेय जी चूके हैं, परन्तु ऐसी त्रुटियाँ क्षम्य हैं।

"अमनि रानीर कथार सूत्र धरिया बामाबोलिया उठिलो" का

अनुवाद है "वैसे ही बहूरानी के स्वर में स्वर मिला कर वामा बोल उठी।" अनुवादक महाशय शायद नहीं जानते थे कि "कथार सूत्र धरिया" "स्वर में स्वर मिलाना" नहीं।

मूल में है."दादा बाबूर साधुचरित्तिर ता आर एकबार करे बोलते," इसका अनुवाद है- "बड़े बबुआ का चालचलन तो ऐसा अच्छा है कि वैसा किसी भी लड़के का न होगा" नहीं; और आपका अनुवाद भी ऐसा वाहियात है.कि ऐसा किसी भी अनुवादक न होगा। पाण्डेय जी! "(एतो भालो) ता आर एक बार करे बोलते" इस तरह के मुहाविरों पर इतनी बेदर्दी से हाथ साफ़ न किया करें तो बड़ी कृपा हो।

"किन्तु बापू रातदिन शुधू पड़ा आर पड़ा, से कि रकम बाई" इसका अनुवाद है "लेकिन लिखने पढ़ने की ऐसी धुन सवार रहती है कि और किसी तरफ़ ध्यान ही नहीं देते। रातदिन पढ़ने में ही लगे रहते हैं।" पाण्डेय जी यह आप अनुवाद कर रहे हैं या विस्तार पूर्वक इसका भाष्य लिख रहे हैं।

"नइले जा बोलो ता बोलो बापू, और बुदि शुद्धि आछे, एक एकटा कथा बोले भालो।" इसका अनुवाद-" लेकिन ईमान की बात तो यह है कि बात पते की कहती है और सबसे (!) समझदार (!!) भी है।" क्यों न हो जब आप जैसे समझदार अनुवादक मिल गये।

"खुड़ी माँ अन्दरेर दिके फिरिलेन" का अनुवाद है "चाची अम्माँ वहाँ से चल दीं।"

"खुड़ी माँ कातर स्वरे बोलिलेन—ए बाड़ी ते आमार ओ

आर बेशी दिन टिकते होबे ना भट्टाचार्य मोशाय, तार परिचय आमिओ यथेष्टई पाच्छी।'' का अनुवाद है कि—"चाची अम्मा ने कातर स्वर से कहा—'भट्टाचार्य जी इस घर में मैं अधिक दिन तक नहीं टिकने पाऊँगी। इसका परिचय भी मुझे यथेष्ट मिल रहा है।'' "मक्षिका स्थाने मक्षिका" लिख कर भी पाण्डेय जी चूक गये। "इसका परिचय भी मुझे यथेष्ट मिल रहा है," नहीं, मूल का अर्थ कुछ और है, मूल का अर्थ है—"मुझे भी इसका यथेष्ट परिचय मिल रहा है" पाण्डेय जी, आपने अपने 'माधुरी' के नोट में "ही" 'भी' के इधर उधर हो जाने पर आक्षेप किया था। जरा देखिये एक 'भी' के इधर उधर होने से अर्थ में कितना परिवर्तन हो जाता है। अनुवाद छोड़ कर साहित्य की बारीकियों पर विचार करने के लिये शायद आपको अभी समय नहीं मिला। देखिये, मूल में भी 'आमिओ' है।

"बुद्धि भ्रष्ट होते (!) देख कर" "तुम्हारे ऊपर (नीचे नहीं !)··· अत्याचार नहीं कर सकेगा।" इस तरह की सैकड़ों भूलें हैं।

"इहार पर नवकिशोर निर्विवादे ग्रामेर स्कूल होइते माइनर पास केरिया वृत्ति पाइलो" इसका अनुवाद है—"इसके बाद नवकिशोर ने बिना किसी विवाद के (!!!) गाँव के स्कूल से माइनर-परीक्षा पास करके वृत्ति पाई।" मूल में 'निर्विवाद' है, फिर क्या, अनुवाद में बिना किसी विवाद के" होना ही चाहिये।' पण्डित जी, यहाँ 'निर्विवाद' का मतलब है "अनायास।" आप इतना तो समझते हैं कि बेचारे विद्यार्थी को क्या पड़ी थी—जो विवाद करके पास करता। "निर्विवाद" बंगला में निर्दोष व्यंग का भी बोधक है।

"नवकिशोरेर एइ कथाय तारक एके बारे खेपिया गिया विषम तर्क जुड़िया दितो" इसका अनुवाद है "नवकिशोर की इस बात से तारक एक दम पागल सा हो उठा, और उसने घोर तर्क ठान लिया।" "दितो" और "दिया!" काल के भाव में महा अकाल पड़ गया है।

"विपिनेर पिता हरिबिहारी हालका छिपे छिपे छोटो खाटो गौर-वर्ण लोकटी", इसका अनुवाद है "विपिन के पिता हरिबिहारी इकहरे लम्बे डील के (जी नहीं, छोटे डील के, या नाटे) और गोरे थे।"

"ताहा देर भावप्रवण तरुणहृदय आगुनेर, फुलकीर मतनई स्वाधीन आनन्देर उज्जवलाय क्षणे क्षणे आपनादिगके चारि दिके विकीर्ण करिते थाकितो।" अनुवाद—"उसका भावप्रवण तरुण हृदय सिंक रही फुलकी (रोटी) की तरह ही स्वाधीन आनन्द से फूल फूल उठता था।" ख़ूब! पण्डित जी, जान पड़ता है, जिस समय आप अनुवाद कर रहे थे उस समय भूख बड़े जोरों की लगी थी, नहीं तो रोटी क्यों सेंकते? यहाँ न कहीं रोटी है न दाल, "फुलकी" है सो वह भी चिनगारी है, रोटी नहीं। 'चिनगारी' की जगह रोटी सेंकना आपही जैसे स्वयं सिद्ध अनुवादक का काम है। कल्पना भी कैसी! मूल में तो है 'विकीर्ण करिते थाकितो'' और अनुवाद में "फूल फूल उठता था।" चिनगारी रोटी थोड़े ही है जो फूल फूल उठेगी? मूल के "विकीर्ण करिते थाकितो' से 'चिनगारी' का भाव ही व्यक्त होता है। "फूल फूल उठना" रूप नारायण जी की रोटी के लिये ही उपयुक्त है। अच्छा है, सेंकिये रोटी।

———

चरित्रहीन

"कोई कोई ग्रन्थ, हिन्दी अक्षरों में लिखे जाने पर भी कोट-पैंएट डाटे और हैट लगाये खासा स्वांग सा भरकर, हिन्दी के मैदान की हवा खाते फिरते हैं; कोई कोई आधी जनानी सूरत बनाये स्लीपर चटकाते हुए; ललित-लवंग-लता की सी सुकुमार दृष्टि से हिन्दी भाषियों के पुरुषत्व को पीड़ा पहुँचाया करते हैं।"

हिन्दी में आजकल जितने ग्रन्थरत्न निकल निकल कर पाठकों की दृष्टि में चकाचौंध लगा देते हैं; उनमें से ३, ४ अंश अनुवादित ग्रन्थों का होता है। कोई कोई ग्रन्थ हिन्दी अक्षरों में लिखे जाने पर भी कोट-पैण्ट डाले और हैट लगाये खासा स्वांग सा भरकर, हिन्दी के मैदान की हवा खाते फिरते हैं। कोई कोई, आधी जनानी सूरत बनाये, स्लीपर चटकाते हुए, ललित-लवंग-लता की सी सुकुमार दृष्टि से हिन्दी भाषियों के पुरुषत्व को पीड़ा पहुँचाया करते हैं। जिस तरह बहिःसंसार में अंग्रेजी, बंगाली, मराठी, गुजराती, पारसी–आदि कितनी ही जातियाँ भिन्न भिन्न रूपों से अपने वैचित्र्य के दृश्य दिखलाती हैं; उसी तरह हिन्दी संसार में भी समझिए।

अभी कुछ दिन हुए बंगला के एक ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हुआ है। मूल पुस्तक बङ्गला के श्रेष्ट उपन्यास लेखक बाबू शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की लिखी है। नाम है 'चरित्रहीन'?। इसके हिन्दी के अनुवादक हैं शरत् बाबू के एक मित्र। मालूम नहीं, शरत् बाबू के मित्र ने अपना पूरा नाम पुस्तक में क्यों नहीं लिखा। अस्तु, अधिक मुखबन्ध की आवश्यकता नहीं ज़रा अनुवाद का आनन्द लूटिये।

अनुवाद का चमत्कार दिखलाने के पहले, हम अनुवाद के नियमों पर कुछ निवेदन करना चाहते हैं। एकबार मैं अपने व्यक्त रूप से,

हिन्दी के धुरन्धर आचार्य पूज्यपाद पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के दर्शन करने गया था। एकाएक अनुवाद का प्रसंग चल पड़ा। मैंने उनसे उसके नियम पूछे। द्विवेदी जी ने कहा, उभय भाषाओं पर अनुवादक का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। उभय भाषाओं के मुहाविरे बिना जाने अनुवाद में सफलता नहीं होती। दूसरे, अनुवाद के लिये यह कोई नियम नहीं कि मूल पुस्तक का अक्षरशः अनुवाद किया जाय; परन्तु यह भी ठीक नहीं कि मूल की अर्थध्वनि कुछ और हो और अनुवाद की कुछ और। अनुवादक को सदा मूल के अर्थ पर ध्यान रखना चाहिये। उसी अर्थ को दूसरी भाषा में परिस्फुट कर देने की चेष्टा करनी चाहिये। यदि मूल में कोई चमत्कार हो तो अनुवाद में भी चमत्कार दिखलाना चाहिये। मूल की भाषा में यदि किसी ऐसे मुहाविरे Idiom का प्रयोग आ गया है जिसकी ओर स्वभावतः पाठक खिंच जाँय तो अनुवाद भी उसी ढंग का करना चाहिये। सारांश यह कि मूल की भाषा और भावों से अनुवाद की भाषा और भावों को शिथिल न होने देना चाहिये। यही अच्छे अनुवाद और सफल अनुवादक के लक्षण हैं। बहुत जगह एक भाषा का मुहाविरा दूसरी भाषा में नहीं आता। वहाँ अपनी साधारण भाषा में किसी दूसरे ढंग से, और कुछ नहीं तो केवल भाषासौष्ठव ही दिखा देना चाहिये। यदि अनुवादक दब गया-मूल भाषा को पढ़कर उसके भाव-गाम्भीर्य पर अपना अधिकार न जमा सका तो उसे सफलता नहीं हो सकती।

अच्छा तो अब शरत बाबू के मित्र का अनुवाद देखिये मूल में है—"किन्तु एखन कथा हइते छे जे एक जायगा चुप करिया बासिया

ाकिते पारा जायना किछू वला आवश्यक । एक जनेर दिके ाहिया वलिलेन, किन्तु बला चाई हे सभापति सेजे सभार उद्देश्य म्बन्धे एके बारे अंघ थाका त आमार काछे भाल ठेके ना, किल ल तोमरा ?" इसका अनुवाद है "लेकिन बात यह थी कि यहां चुप ाप-बैठना मुश्किल था। कुछ न कुछ बोलना जरूरी था एक आदमी ी ओर इशारा कर के बोले—"अरे भाई कुछ कहो भी तो ? सभापति ा स्वांग भर सभा के उद्देश्य के सम्बन्ध में बिलकुल अनभिज्ञ रहना मुझे अच्छा नहीं लगता तुम लोगों की क्या राय है ?"

इस अनुवाद में शरत् बाबू के मित्र को ही जब ऐसा धोखा हो ाया तब भला दूसरे अनुवादक जो कोसों दूर रहते हैं, अनुवाद करते समय किन किन कठिनाइयों का सामना न करते होंगे ? रन्तु शरत् बाबू ने यदि, उद्धृत उतना अंश एक अलग पैराग्राफ़ में लिखा-और यही उचित था, तो उनके अनुवादक मित्र ो, 'किन्तु' से पैराग्राफ़ का आरम्भ हुआ देख, उस शब्द के ंयोजक गुण के कायल होकर, उसके लिये अलग पैराग्राफ़ की सृष्टि करके उसे पिछले ही पैराग्राफ़ के साथ जोड़ दिया ! फल यह हुआ क अर्थ में महाअनर्थ पैदा हो गया। शरत् बाबू के वाक्यों की ध्वनि एक विशेष अर्थ की ओर इशारा करती है तो अनुवादक की ध्वनि में एक दूसरी ही तान उठ रही है।

बात यह है कि कुछ लड़के उपेन्द्र को सभापति बनाने के लिये उनके पास आये हैं, और छात्र-मण्डली प्रायः उपेन्द्र को ही सभापति ुनती है, क्योंकि छात्र-जीवन में उपेन्द्र सफलता पूर्वक परीक्षाओं में

उत्तीर्ण हुए थे, इसलिये लड़के अब भी उनका सम्मान करते हैं। अस्तु, उपेन्द्र छात्रों से सभा का उद्देश्य पूँछते हैं ताकि सभापति के आसन पर से, उनसे, उस विषय पर पहले ही से तैयार हो कर कुछ कह सकें। इसी बात का समर्थन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं--"किन्तु एखन कथा हइ ते छे जे, एइ जायगा टिते शुधू चुप करिया बसिया जामना किछू बला आवश्यक।" इसकी अर्थ ध्वनि यह है--"परन्तु इस समय बात यह है कि इस आसन पर चुपचाप बैठा तो जाता नहीं--कुछ बोलना ही पड़ता है।" इसके पश्चात् ग्रन्थकार उपेन्द्र की ओर मुड़ते हैं, कहते हैं--"(अतएव उपेन्द्र) एक आदमी की ओर इशारा करके बोले--'किछु बला चाइते है !' (मुझे) 'कुछ कहना भी तो चाहिये'—इसे अनुवाद करते हुए शरत् बाबू के मित्र लिखते हैं—"अरे भाई कुछ कहो भी तो।' अब देखिये, 'मुझे कुछ कहना भी तो चाहिये' और 'अरे भाई कुछ कहो भी तो' इन दोनों के अर्थ में कितना अन्तर है ! उपेन्द्र के वाक्य में शरत् बाबू उपेन्द्र की अभिज्ञता सूचित करते हैं। उनके मित्र अपने अनुवाद में उपेन्द्र जैसे विद्वान की अज्ञता !

"दाँतेर हासी" का अनुवाद है "दन्तहास्य"। हिन्दी में यह एक नया आविष्कार है। अबतक दन्तकथा का ही प्रयोग देख पड़ता था। 'दाँत' और "हँसी" इन दोनों शब्दों पर देववाणी की मुहर लगा कर शरत् बाबू के मित्र ने ख़तरे से अलग होने का उपाय भी खूब सोचा। जिस तरह गम्योत्प्रेक्षा का एक अलग लक्षण बतलाने के पश्चात् लाला भगवान दीन जी ने सूचित कर दिया है कि सब प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ

गम्योत्प्रेक्षा हो सकती है, उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि 'अट्टहास्य, विकटहास्य, उच्चहास्य' आदि हास्य के जितने बन्धु-बान्धव है, दन्त-हास्य में उन सब को जगह मिल जाती है। कारण, कैसा ही हास्य क्यों न हो, उसमें दाँत ज़रूर निकल पड़ते हैं। बहस एक मृदु या मन्द हास्य के लिए हो सकती है। परन्तु ओष्ठहास्य यदि कृपा करके ज़रा द्वार खोल दें तो उसे भी दन्तहास्य का आसन मिल जाय।

अनुवाद के चौथे पृष्ट में है,—"लिखने पढ़ने ने मुझी को पकड़ रक्खा था"। हम इस तरह के लिखने पढ़ने का विरोध नहीं करते। परन्तु 'सरस्वती' के किसी अंक में किसी लेखक महोदय ने अपने मित्र सम्पादक के पत्रों से ऊबकर उनकी एक चिट्ठी ही छपा दी थी। सम्पादक के पत्रों में लिखने पढ़ने की चर्चा के सिवा और रहता ही क्या है? इस पत्र में एक वाक्य इस ढंग का था—"आपके लेख न लिखने ने मुझे तंग कर डाला।"

एक जगह है "जाड़े का घाम पीठ पर सह कर सिर पर चादर लपेटे इन लोगों की मजलिस खूब जमी हुई थी।" यह यथार्थ रूपान्तर है। रूपान्तर होने के कारण ही यहाँ हिन्दी का स्वरूप कुछ बिगड़ गया है। वह "सहकर" की जगह ज़रा सिकुड़ जाती है। अनुवादकों का अत्याचार कहाँ तक सहे? सिर पर चादर लपेटे और पीठ पर जाड़े का घाम सहते हुए लोग मजलिस में डटे रहें तो उसे भी कुछ आनन्द हो। जब पहले पहल हमने इस वाक्य को पढ़ा तो बड़े चक्कर में आये, कुछ समझ में नहीं आया। सोचा, घाम से तप रही है पीठ और चादर लपेटा सिर पर! यह कैसा? यह वाक्य

तो वैसा ही है, जैसा कि, 'पीठ पर डंडे सहकर सिर पर मरहम लगाये हुए विश्वनाथ रोने लगे।'......जब मूल पुस्तक से मिलाया तब उसका भाव समझ में आया।

मूल में है—"वास्तविक तोर ये रूप संदिग्ध प्रकृति, ताते संदेह हो-तेई पारे, तुइ ईश्वर पर्यन्त मानिसने।" इसका अनुवाद है—"असल में मेरी जैसी संदिग्ध प्रकृति है, उससे एक संदेह होना स्वाभाविक ही है कि तू ईश्वर तक को नहीं मानता।" मूलमें तो है—'तेरी संदिग्ध प्रकृत्ति' परन्तु अनुवाद में है 'मेरी संदिग्ध प्रकृति। हमें शंका होती है, यह अर्थ का अनर्थ पाठक समझेंगे कैसे? कहाँ उपेन्द्र, बड़े जेठे की तरह, सतीश के सन्देह के कारण, उसे समझाते हैं, कहाँ वह कुल सन्देह शरत् बाबू के मित्र की कृपा से उलट कर उपेन्द्र ही पर सवार हो जाता है! ऐसी भूल प्रूफ़ देखने की ग़लती से हो जाया करती है। परन्तु अनुवादक महाशय जहाँ लिखते हैं—'उससे एक सन्देह होना स्वाभाविक ही है', इस जगह 'एक' आपको कहाँ मिल जाता है, कुछ समझ में नहीं आता। यह 'एक' है भी कितना भद्दा! 'एक सन्देह होना' नहीं 'यह सन्देह' होना चाहिये था।

"सतीश......बोलिलो, हा अदृष्ट! ईश्वर मानिने? भयंकर मानी।" इसका अनुवाद है—"सतीशने...कहा—हाय! भाग्य! ईश्वर को नहीं मानता। बड़े जोरों से मानता हूँ।" बंगला में 'भयङ्कर मानी' के 'भयङ्कर' शब्द का प्रयोग बामुहाविरा है; और 'भयंकर' कह कर बनावटी भय के साथ साथ सतीश मीठी चुटकी भी ले रहा है। परन्तु अनुवाद में न कहीं मुहाविरा है, न

कहीं मीठी चुटकी। हाँ, 'बड़े जोरों से' में 'गँवरपन' का बल अवश्य सूचित हो रहा है। दूसरे 'बड़े जोरों से मानना' हिन्दी का मुहाविरा नहीं। 'बेहद मानना'' 'हद से ज़्यादा मानना' 'आवश्यकता से अधिक मानना', न जाने और कितने हैं। इनसे अगर दिल्लगी के भाव में कोई कोर-कसर रही जाती हो तो वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम न लगा कर कोई आश्चर्य-सूचक, आनन्द सूचक, हर्षातिरेक-सूचक, एक मात्र चिन्ह, !, लगा देते।

"अब तक कलह के जो मेघ मूर्तिमान हो रहे थे, वे सब इस हँसी की आँधी में ऐसे उड़े कि पता ही न लगे।" इस अनुवाद में अन्त का 'लगे' 'लगा' बनना चाहता है। मूल के 'उद्देश रहिल ना' से भी 'लगा' ही लगता है। 'तमाकेर जन्य हाँकाहाँकी करिते लागिलो' का अनुवाद है—'तम्बाकू के लिये शोर करने लगा।' 'हाँकाहकी' का भाव यहाँ 'शोर करने' से बिगड़ जाता है। ज़ोर ज़ोर से पुकारना ही बहुत है। 'जे अन्धकार, सेई अन्धकार' का अनुवाद है—'जो अन्धकार है वह अन्धकार ही है' (!) क्यों नहीं।

'मेझे ऊपर' का अनुवाद 'चटाई पर' किया गया है। 'मेझे' 'चटाई' नहीं, (Floor) है—बिलकुल ज़मीन। आपका अनुवाद है 'उम्र अन्दाज़न बाइस तेइस बरस के लगभग होगी।' जब 'अन्दाज़न' लिख चुके तब 'लगभग' क्यों लादा?

इस 'चरित्रहीन' उपन्यास की प्रधान पात्री 'सावित्री' है। यह पढ़ी लिखी है। किसी अच्छे कुल की लड़की है। परन्तु अब समाज की दृष्टि में पतित है। तमाम संसार में उसके लिए अपना कोई नहीं।

घर द्वार बन्धु-बान्धव बहुत पहले ही छूट चुके हैं। अलग एक मकान में रहती है। मेस में काम करती है, उसीसे जीविका चलती है। युक्त-प्रदेश की महरियों और मजदूरिनों से बङ्गाल की 'झी' में बड़ा अन्तर है। भाव एक ही है। परन्तु शब्दगत जो लावण्य 'झी' शब्द में है, वह महरिन और मज़दूरिन में नहीं। बङ्गाल में 'कन्या' के अर्थ में 'झी' शब्द का प्रयोग करते हैं। मालूम नहीं 'झी' शब्द 'दुहितृ' का अपभ्रष्ट रूप है या 'धात्री' का। कुछ भी हो, है यह शब्द श्रुतिमधुर और भाव कोमल। इस शब्द में कुछ (Romance) भी है इसका यथार्थ भाव मजूरिन में नहीं आता। 'मजूरिन' में न लावण्य है, न कोमलता है न अपनापन है, न (Romance) है। अस्तु, सावित्री का परिचय देते हुए शरत बाबू लिखते हैं "सावित्री मेसेर झी एवं गृहिणी।" इसका अनुवाद करते हुए शरत् बाबू के मित्र लिखते हैं—"सावित्री मेस की मजदूरिन भी है और घर की मालकिन भी।" चरित्रहीन जैसे रोमैन्टिक उपन्यास की प्रधान पात्री को, प्रथम परिचय में ही, मजदूरिन बतलाना, अनुवाद की रोमैन्स-हीनता का परिचय है। जिस तरह शरत बाबू के मित्र ने 'मेस' शब्द को अपनाया है, अच्छा होता यदि 'झी' शब्द को भी अपनाते। 'झी' के परिचय में एक छोटा सा नोट लिख देते तो पाठक समझ जाते। इतनी बड़ी नायिका को 'मजदूरिन' के रूप में लाना अच्छा नहीं हुआ। पढ़नेवालों की रुचि बिगड़ जाती है, सतीश जैसे अच्छे खान्दान के युवक को 'मजदूरिन' से प्रेम करते देख पाठकों की रुचि भ्रष्ट हो जाती है। रोमैन्स के बदले उनमें एक बीभत्स भाव भर जाता है।

"मजदूरिन' से तो 'दासी' शब्द अच्छा था। भाव दोनों के एक होने पर भी शब्द लालित्य की दृष्टि में बराबर नहीं है। और चाहे जिस तरह आप 'झी' का भाव प्रकट करते, पर मज़दूरिन का बीभत्स श्रृंगार पाठकों को न दिखाना था।

मूल पुस्तक में शरत् बाबू लिखते हैं—"शुभ कर्म्मेरि गोड़ातेइ टुकोना बोलछि!" इसका अनुवाद है—"शुभ कार्य के आरम्भ में ही गोलमाल मत करो, कहे देता हूँ।' 'टुकोना' का अर्थ 'गोलमाल मत करो', कहे देता हूँ किया गया है। समझ में नहीं आता, शरत् बाबू के मित्र शरत् बाबू से मिलते हैं तो किस भाषा में बातचीत करते हैं। यदि बंगला में करते होंगे, और बहुत सम्भव है बंगला में ही करते हों—क्योंकि 'गृह्यमाख्याति पृच्छति' प्रीति—लक्षणों में ही शामिल हैं, तो क्या वे 'टुकोना' जैसे प्रचलित बंगला-शब्द का भी अर्थ न जानते होंगे? थोड़ी देर के लिये अगर मान भी लिया जाय कि नहीं जानते बंगला, इस बीसवीं सदी की सभ्यता के अनुसार दुभाषिये की सहायता से भी मित्रता की रस्में सोलहों आने पूरी उतार दी जा सकती हैं, तो क्या उनके साधारण हिन्दी-ज्ञान में भी कोई अधूरापन है? अगर 'टुकोना' को हम 'टोंको न' बना दें तो यह 'न' के साथ ठेठ हिन्दी की "टोंको" क्रिया बन जाती है। 'टुकोना' यानी 'न टोंको' या 'मत टोंको',—'पर गोलमाल मत करो' लिख कर तो 'मत टोंको' के साथ ज़्यादती करना ही होता है। 'टोंकना' बेचारा 'गोलमाल करना' क्या जाने? उसके तो ज़रा ज़ुबान हिलाने ही से शुभकर्म पर आफ़त टूट पड़ती है, गोलमाल करे तब तो प्रलय हो जाय।

लिखा है—"देश के कितने ही दरिद्र हैजे में पड़कर चौपट हो जाते हैं" हाँ, देश के कितने ही दरिद्र हैजे में चौपट हो जाते हैं। अगर हम लिखें, 'राम न करे अनुवादक महाशय हैजे में पड़ें', तो अनुवादक महाशय को अपने साथ हैजा शब्द देखकर, जितना कष्ट होगा, हमें 'हैजे' के साथ 'पड़कर' देखकर भी उतना ही कष्ट हो रहा है। दूसरा आक्षेप यह है कि शरत् बाबू तो हैजे में गरीबों को उजाड़ रहे हैं परन्तु अनुवादक महाशय गरीबों को हैजे में डाल कर चौपट कर रहे हैं। अच्छा है, कीजिये जो जी में आये।

"क्षणकाल परे तामाक साजिया" का अनुवाद है "पल भर के बाद तमाकू भर लाई"। 'पलभर' का प्रयोग शीघ्रताबोधक अर्थ में ही किया जाता है, जैसे-हम पलभर में यह काम कर सकते हैं। जहां 'पल-भर' का इशारा, पलभर के विलम्ब की ओर होता है, वहाँ 'पल भरके बाद' का ऐसा प्रयोग ठीक नहीं। 'पलभर के बाद तमाकू भर लाई" यहाँ "पलभर के बाद" खटकता है। इसके सामानार्थ के वाक्यांश हिन्दी में बहुत हैं।

"सावित्री बोलिलो, आज मिथ्ये कामाइ करलेन।

सतीश कहिलो—'एइटेइ सत्य! आमार धातटा किछु स्वतंत्र, ताई माझे माझे एरूप ना करले असुख होये पड़े।"

इसका अनुवाद—सावित्री बोली—"आप झूठमूठ बैठे रह गये!"

सतीश—'सच है। मेरा ढंग ही कुछ निराला है। इसीसे कभी कभी-ऐसा न करने से तबीयत खराब हो जाती है।"

यहाँ हमारा मतलब सिर्फ़ सतीश के 'सच है' वाक्य से है। इसका

सम्बन्ध दिखाने के लिये ही आगे और पीछे का उतना अंश हमने उद्धृत किया है। पहले तो इतना ही कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि मूल के "एइटेइ सत्य" का "सच है" अनुवाद सर्वथा भ्रमपूर्ण है; 'एइटेइ' का यथार्थ अनुवाद है "यह सच है;" इस वाक्य में 'एइटेइ' में ज़ोर दिया गया है,—जैसे 'यह' में ज़ोर देने पर 'ही' आ जाता है और तब उसका रूप 'यही' हो जाता है। जब किसी वाक्य के किसी शब्द पर ज़ोर दिया जाता हैं तब वही शब्द उस वाक्य का मुख्य शब्द हो जाता है उसी पर पाठकों का ध्यान अधिक आकृष्ट होता है। शरत् बाबू ने 'एइटेइ सत्य' (यही सच है) लिखा तो उनका 'एइटेइ' भाषा-विज्ञान के अनुसार एक विशेष अर्थ रखता हैं। परन्तु अनुवादक महोदय ने इसे बिलकुल छोड़ दिया है। इस स्थल पर अनुवादक महाशय का अर्थ, भाव में, महाअनर्थ पैदा कर रहा है; भाव का तार बिना-सम के रुके संगीत की तरह, एकाएक टूट कर कानों में कटुता की तीव्र झनकार भर देता है। अब विचारणीय यह है कि शरत्बाबू यदि सतीश से "एइटेइ सत्य" (यही सच है) कहलाते हैं तो उस "एइ-टेइ" (यही) का प्रयोग पहले के किस शब्द या वाक्य के सर्वनाम के के रूप से किया गया है। हमने सावित्री की उक्ति उद्धृत कर दी है। सावित्री के उद्धृत प्रथम वाक्य पढ़ने पर 'एइटइ' की आवश्यकता समझ में आ जाती है। सावित्री कहती है—"आज मिथ्ये कामाइ कर-लेन !" इस वाक्य में ज़ोर "मिथ्ये" शब्द पर है। इसीलिए सतीश उत्तर में कहता है—"एइटेइ (=मिथ्या कामाइ करलेन) सत्य" "अर्थात् जिसे तुम मिथ्या समझती हो वही सत्य है। यहाँ 'मिथ्या' के

विशेषण के रूप से 'यही' का प्रयोग किया गया है, और 'मिथ्या और 'सत्य' का जोड़ा मिला कर—दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से शरत् बाबू ने सतीश के वाक्य में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। परन्तु अनुवादक महोदय की कृपा से, चमत्कार तो दूर रहा, मूल का अर्थ भी ग़ायब हो जाता है ! अनुवादक के 'सच है' से सावित्री के वाक्य की ही पुष्टि होती है; किन्तु उसके 'मिथ्या' को सच साबित करने का भाव जड़ समेत उखड़ जाता है।

चाबुक

"सुन लीजे गोश-ए-दिल से मुशिफ़क़ाय' अर्ज़ ।
मानिन्द-बेंत ग़ुस्से से मत थरथराइये ॥

—इन्शा ।

म्पादक माखन लाल चतुर्वेदी सितम्बर (१९२३ ई०) की 'प्रभा' के विचार-प्रवाह में 'प्यारे निरक्षर' को बड़ी भावुकता से चित्रित करते हुए—यह दोष नहीं कि आपके लेख और टिप्पणियाँ भावुकता की मारी हुई रस की खोज में रसातल पहुँच जाती है या दूर की कौड़ी लाती है,—लिखते हैं—'बूढ़े मुजरिम मैं जब से तुझे जानने लगा हूँ.........' वाह भई यह तो तुमने अच्छी शैली ढूँढ़ी। तुम्हारे तू-तू में "गौरवे बहुवचनम्' की जगह 'सम्बोधने बहुवचनम्' की खासी बहार है! वर्ना 'बूढ़े मुजरिम' तशरीफ़ क्यों लाते, हाँ, 'बूढ़े' को 'बूढ़ा' कहो तो उसका अपमान होता है, क्यों न?

"झाड़ू' लिखते हुए यार तुमने तो कई जगह झाड़ू ही फेरी है। यह लिख कर कि "......ज़ोर ज़ोर से स्तोत्र की लकीरें पुकारने लगा।" क्या कमाल किया है। चलो अब रास्ता साफ़ है। अब तुमको भी पुकारेंगे और 'प्रभा' न आई तो 'प्रभा भी पुकारेंगे' और ज़ोर ज़ोर स्तोत्र की लकीरें तो क्या विराम चिन्ह भी पुकारेंगे।' हाँ एक बात और रह गई। उसी विचार में नीचे लिखा है—

"क्या तेरे इस पाखण्ड पर झाड़ू नहीं पड़नी चाहिये!' क्यों जी, यह 'झाड़ू पड़ना' कहाँ का मुहावरा है? हाँ बङ्गला में इस 'झाड़ू' या 'झाँटा' के कितने ही प्रयोग होते हैं, तो क्या तुम्हें भी बंगला की बू पसन्द है? अरे यार यह बुखार है जो मर जाने पर भी १०५ डि० बना ही रहता है। जब कि 'झाड़ू पड़ना' हिन्दी का मुहावरा नहीं, तो इसका सीधा अर्थ हुआ 'झाड़ू गिरना' अच्छा अब उस समूचे वाक्य का अर्थ तुम्हीं लगा कर देखो कि क्या मजा आता है।

कहीं कहीं अव्ययों ने तो भावों तक का अपव्यय कर डाला है। प्रमाण यह लो--"पीड़ित नर नारी घास की रोटी बना कर खाते हैं, फिर भी वे मर जाते हैं।" 'फिर भी' को फाँसी की दी गई है। वह कहता है, अगर आप मेरा पीछा नहीं छोड़ना चाहते तो मेरे शुद्धि-आन्दोलन पर ध्यान देकर अपने वाक्य को इस तरह लिखिये---"फिर भी वे नहीं जीते।" लोग घास-पात खाते हैं जीने ही के लिये, और जब कि जीने का अभाव दिखलाने के उद्देश्य से 'फिर भी' को घसीटा तो 'मरना' धातु से भावों का साम्य नष्ट न होने देना चाहिये था। पहले वाक्य की ध्वनि जीना है।और दूसरे की उसका अभाव। अस्तु वह छिपी हुई ध्वनि तभी व्यक्त होगी जब दूसरे वाक्य की एक ही क्रिया से, भाव और अभाव दोनों का स्पष्टीकरण हो जायगा। 'अतएव फिर भी वे नहीं जीते' लिखना चाहिये था।

× × ×

सितम्बर (१९२३) की 'सरस्वती' में पन्डित रामचरित उपाध्याय की 'सरलता' शीर्षक कविता को पढ़िये तो उसके कर्ण-कटु शब्द ही आपके हृदय से सरलता को घसीट कर बाहर निकाल देंगे, फिर मौके बेमौके आपको शब्दों के विकट विन्यास के थपेड़े भी सहने पड़ेंगे। अगर इतने पर भी आपके होश ठिकाने न हुए तो पूरी कविता पढ़ डालने से पहिले ही आपको भविष्य व्याधि से बचने के लिये दस ग्रेन 'कुनयन' या तो किसी 'परगेटिव पिल' का सेवन करना पड़ेगा क्योंकि यह कविता इतने सहज ही हज़म होने की नहीं।

आपकी कविता में कवित्व का तो कहीं पता नहीं पर उपदेशों की

भरमार और उनकी ख़ासी बहार है। वक्र, बङ्क या टेढ़े मेढ़े बन जाने के, आपकी कविता में एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। बानगी या नमूने के लिये लोग पहले हाथ बढ़ाते हैं, अतएव हमारे पाठक भी उदाहरण के रूप में नमूना देखने के लिए घबराते होंगे। अच्छा, लीजिये यह पहली बानगी:—

"सरल सबल के साथ निबल भी
प्रतिपल रहता कड़ा हुआ।"

इस पद्य को गद्य बनाइये तो ऐसा होगा "सरल (और) सबल (मनुष्य) के साथ निबल (मनुष्य) भी (?) प्रतिपल कड़ा हुआ (!) रहता (है)।"

इस पद्य में 'हुआ' के साथ, एक तुक मिलाने के उद्देश्य से ऐसी मनमानी की गई है। शब्दों को प्राणों की तरह प्यार करने वाले कवि कभी ऐसे बेदर्द भी होते हैं इसके उदाहरण उपाध्याय जी की कविता में, आप जितने चाहें देख लीजिये। 'हुआ' के आगे 'बना' बैठाइये तो किसी तरह इस कविता की शुद्धि हो सकती है। परन्तु सच पूछिये तो आपके पद्य ऐसे होते हैं कि आप उनका चाहे जितना सुधार करें, गद्य में भी उनके उसी 'अष्टावक्र' स्वरूप के दर्शन होते हैं। आपके उद्धृत पद्य में 'भी' की भी बड़ी बुरी दशा है। वह शब्द तो समालोचकों की सहानुभूति पाने की आशा से कह रहा है 'गये दोनों जहाँ से खुदा की क़सम न इधर के रहे न उधर के रहे।' इस 'भी' को आपने मात्राएँ पूरी करने के लिए रक्खा तो वह अर्थ की असंगति की ओर इशारा करके आपसे बदला चुका रहा है। देखिये, यदि आप कहते हैं कि

"सबल के साथ निर्बल भी कड़ा बना रहता है," तो इस 'भी' के प्रयोग से सूचित होता है कि 'निर्बल' के अतिरिक्त कोई और (मनुष्य) 'सबल के साथ कड़ा' बनने का इरादा रखता है; जैसे 'उनसे हम भी नहीं बोलते' इस वाक्य में 'भी' का प्रयोग सूचित कर देता है कि हमारे अतिरिक्त कोई और है जो उनसे नहीं बोलता; अतएव उद्धृत पद्य में 'भी' के प्रयोग से अर्थ की असंगति हो गई है। यदि आप उससे ऐसा अर्थ निकालना चाहते हों कि---"निर्बल (होने पर) भी, सरल (और) सबल के साथ, (मनुष्य) प्रतिपल कड़ा बना रहता है"---तो आपके भाव कुछ और हैं और आप के शब्द कुछ और कह जाते हैं। उस रीति से 'भी' को तो एक 'ठौर' मिल जाता है परन्तु आपका 'हुआ' ज्यों का त्यों 'हुआता' ही रह जाता है।······यदि आपने प्रथम पंक्ति 'टेढ़े अंकुश के वश में है करी बली भी पड़ा हुआ'—के 'बली भी' का सौन्दर्य बढ़ाने के लिये दूसरी पंक्ति में 'निबल भी' रख दिया है, तो इस शब्दयोजना से आपकी कविता-शक्ति को और भी नीचा-देखना पड़ा।

"यदपि समय पाकर निज पालक को (का ?) भी वह दुखदाता है।" "को" रखिये तो उधर 'दाता' को 'देता' कर दीजिये और यदि "दाता" बेतुकी कह जाने के भय से अपना आसन न छोड़े तो 'को' की जगह 'का' बना दीजिये। "वक्र नखायुध जिस पशु को (के ?) है (हैं ?)। उपाध्याय जी "है" लिख कर, इस एकवचन की क्रिया से साबित करते हैं कि एक नखायुधवाला पशु भी है। अच्छा होता यदि आप उसका एक ही उदाहरण अपनी

कविता में दे देते ।' 'का' 'और' 'के' की जगह 'को' लिख मारने का आपको अभ्यास सा पड़ गया है। कृपा करके क्या 'कोको' की करामात में कुछ कमी भी कीजियेगा ?

"बिना वक्र के बने कभी क्यों
हो सकता मन स्थिर कैसे ?"

गद्य इसका यों होगा—"बिना वक्र के (आपका 'के' वाहियात है) बने कभी क्यों (?) कैसे (?) मन स्थिर हो सकता है ? 'कभी' के बाद 'क्यों' और 'कैसे' कमाल कर रहे हैं। बस, कविता की हद हो गई।

× × ×

कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के हिन्दी-प्रोफ़ेसर पं० सकल नारायण जी पाण्डेय काव्य-सांख्य-व्याकरणतीर्थ ने 'माधुरी' के किसी अङ्क में 'ही' शीर्षक एक प्रबन्ध लिखा है। प्रबन्ध विद्वत्तापूर्ण है। अगर उसमें कहीं कुछ कोर-कसर रह गई है तो उसका कारण यह है कि प्रबन्ध लिखते समय 'सरस्वती' को उलट पुलट कर बख़्शी जी के 'ही' 'भी' के प्रयोग आपने नहीं देख लिये। आपको उदाहरणों से बड़ी सहायता मिलती। अगस्त (१९२३ ई०) की 'सरस्वती', विविध विषय, पृष्ठ १९५ प्रथम कालम के दूसरे पैराग्राफ़ में लिखा है—'कोरम पूरा भी होता है तो भी सब न सही, अधिकांश भी मेम्बर नहीं आते' ! पाठक ! 'भी' की भरमार देखी आपने ! क्यों भाई सम्पादक ! अगर ऐसा लिखते—'कोरम पूरा (भी) होता है तो भी अधिकांश मेम्बर नहीं आते' तो भला सम्पादन-कला की १६ नहीं ६४ कलाओं में से, कितनी कलाएँ घट जातीं ? जब कि 'अधिकांश' ख़ुद कहता है कि मैं

किसी पूर्ण विषय या वस्तु का, सब नहीं, अधिक-अंश हूँ, तो 'सब न सही' अकारण क्यों लिख मारा ? जान पड़ता है, 'अधिकांश' के पीछे 'भी' जोड़ने के लिये 'सब न सही' को रगड़ डाला।

इस संख्या के दूसरे नोट की ११वीं लाइन से शुरू करके लिखा है—'तब आजकल जैसे साधन भी न थे।' यहां तो 'जैसे' की कृपा से 'आजकल' और 'साधन' दोनों 'समवायः सखा मतः' हो गये हैं यानी आजकल' और 'साधन' में फ़र्क बाल भर नहीं रह गया; जैसे-'आप जैसे उदाराशय मनुष्य संसार में कम हैं' इस वाक्य में 'आप' और 'उदाराशय मनुष्य' 'जैसे' की कृपा से भेदबुद्धि-रहित हो गये हैं। यानी जो आप हैं, वही उदाराशय मनुष्य हैं। परन्तु सरस्वती-सम्पादक का जो 'आजकल' है वही 'साधन' नहीं। अतएव सरस्वती-सम्पादक की लुटिया तभी डूबने से बचेगी जब 'आजकल' और 'जैसे' के बीच में एक 'के' जोड़ दिया जायगा।

× × ×

आश्विन (सं० १९८०) की 'माधुरी' में एक लेख है 'लाहौर'। पढ़ने लगे तो पहिली ही पंक्ति में धोखा खा गये। लिखा है—'पुरातन काल से चली आनेवाली पंजाब की राजधानी लाहौर ने जितने परिवर्त्तन देखे हैं……।' श्रीमती लाहौर के पैर बड़े मज़बूत हैं क्योंकि वे पुरातन काल से चलती ही आ रही हैं। कहीं बैठीं नहीं, विश्राम ज़रा भी नहीं किया। न जाने अभी कब तक चलना पड़े। उनसे प्रार्थना है कि वे हिन्दी-संसार में इस तरह मनमानी चाल न चलें। क्योंकि इस बन में बबूर के कांटों की कमी नहीं। छिद जायँगे तो निकालने में आफ़त

होगी। उनके सपूत पंजाबी उन्हें चलाते हैं तो चलावें, पर लखनवी सम्पादक, नज़ाकत की राजधानी में रहने पर भी, इतने बेदर्द हो जायँ कि उन्हें चलने से न रोकें, यह बड़े परिताप की बात है।

'माधुरी' की इसी संख्या में 'क' नामक लेखक ने 'साहित्यालोचन' शीर्षक लेख में बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० की साहित्यालोचन पुस्तक की आलोचना क्या की, व्यर्थ निन्दा लिखी है। साहित्यालोचन भले ही साहित्यदर्पण के जोड़ की पुस्तक न हो, पर वह कुछ नहीं है, यह वही कहेगा, जिसे साहित्य के किसी भी अंग का ज्ञान नहीं—साहित्य के नाम से जो बिलकुल कोरा है। 'माधुरी' के सम्पादकों को चाहिए था कि ऐसी आलोचना के लेखक का पूरा नाम दे देते। अच्छा, अब 'क' महाशय के भाषाज्ञान की भी थाह लीजिये। आप लिखते हैं 'मगर पिछले पाठकों को तो (!) इसके पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है?' 'तो' इस वाक्य में वैसे ही चमक रहा है 'हंस मध्ये बको यथा'। 'तो' की कोई आवश्यकता न थी। आप लिखते हैं—'संभव है जो कुछ बाबूसाहब ने इस विषय में पढ़ा हो, उसको शायद (!) इसलिये कुछ संक्षेप में लिख लिया हो······' आलोचना के लेखक महोदय! आप जब 'संभव' लिख चुके तो 'शायद' बेचारे को भला क्यों सज़ा दी? आपके सम्भवता-सूचक वाक्य का अन्त ही न हो पाया और शेख़ 'शायद' मियाँ डट गये! सम्भवता का इतना डबल फ़ोर्स क्यों?

× × ×

लोग कहते हैं, इस समय 'माधुरी' हिन्दी-संसार की श्रेष्ठ

गनिका है। उन्हीं जुबान से यही हम भी कहते और मानते हैं। खुल कर कुछ इसलिये नहीं कहते कि कहीं हमारी गुरुता का रंग न फीका पड़ जाय!

आश्विन की 'माधुरी' के ११ वें नोट में है—"अभी बारम्बार मार खाकर हिन्दू-जाति ने करवट बदली थी। जान पड़ता था, अबकी उसके चोट लगी है; वह अब अवश्य उठकर, यथासम्भव शीघ्र ही, तत्परता के साथ संगठित होकर, शक्ति की आराधना के साथ शान्ति, मैत्री, साम्य का साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा।" वाह भाई, तुमने इस पूरे दो हाथ के सेंटेंस को जितना सुहावना बनाया उतना ही 'सेंटेंस' भी दिया। क्योंकि पहले तो 'जाति ने करवट बदली थी, उसके चोट लगी।' फिर वह साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा।' जान पड़ता है तुम 'जाति' को उभयलिङ्ग मानते हो, क्यों न?

× × ×

आश्विन (१९८०) की 'शारदा' के प्रथम पृष्ठ पर 'किरीट' उपनाम-धारी किसी कवि-महोदय की एक कविता प्रकाशित हुई है। कविता के कालमों की सजावट देखकर मालूम हुआ कि 'कांचनजङ्घा' के साथ 'किरीट'जी का कोई घनिष्ट संबन्ध है। क्योंकि कविता किरीटनुमा है। शीर्षक है 'विजयाह्वान'। तुकबन्दी में फ़र्क बालभर नहीं रह गया। 'पास, हास' आदि अनुप्रास बड़े ढङ्ग से रखे गये हैं। आजकल के तुक्कड़ तो बस अनुप्रास की पूँछ पकड़ कर कविता-वैतरणी न पार होते हैं, भाषा और भावों के संगठन पर चाहे पत्थर ही पड़े। उसमें एक जगह है :—

जो हम चिन्ता छोड़ मनाये (मनाते ?)

गये सदा उत्सव हरसाल,

तो प्राचीन प्रथा में होगा

क्यों कुछ परिवर्तन विकराल।"

इस कविता से तो बेहतर यह था कि यहाँ एक खासा लड्डू का चित्र अङ्कित कर दिया जाता, तो लोग देखकर कुछ रसानुभव भी करते ! एक जगह और लिखा है:—

"समय चक्र का फेर बुरा है,

हो जावे चाहे जो आज।

पर संशय का पात्र नहीं है,

भारत के भविष्य का साज ॥"

ठीक है, आप कविता लिख रहे हैं या ज्योतिष उद्‌गीर्ण कर रहे हैं। अगर भविष्य के शब्द आपके पेट में आवश्यकता से अधिक चले गये हों तो कवि जी ! सावधान, कहीं हाज़मा न बिगड़ जाय ! फिर 'वर्तमान' से 'चूरण' मिलने की आशा छोड़ देनी पड़ेगी। हमारी विनय पर ध्यान दीजिये—

"तुकबन्दी के लिये तुम्हें।

हम धन्यवाद देते कविराज।

किन्तु प्रार्थना, कविजी ! रखना

भाषाभावों की भी लाज ॥"

× × ×

'सरस्वती' हिन्दी की सर्वोत्तम पत्रिका है। पूज्यपाद द्विवेदी जी के

परिश्रम से वह अंगरेज़ी 'माडर्न रिव्यू' और बंगला के 'प्रवासी' आदि प्रतिष्ठित पत्रों के जोड़ की हो गई है। उसकी भाषा भी हिन्दी के लिये आदर्श है। जब तक द्विवेदी जी उसके सम्पादक थे तब तक उसकी भाषा कितनी सुन्दर और निर्दोष होती थी, यह हिन्दी के सभी पाठकों को विदित है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी नहीं हो सकते; परन्तु फिर भी, किसी सुयोग्य पुरुष-रत्न द्वारा जिस आसन की प्रतिष्ठा हो जाती है उस पर उनके पश्चात् चाहे जिसे बैठने का सौभाग्य प्राप्त हो, वह आदर और सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है। अतएव हिन्दी-संसार बख़्शी जी को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। हमें यह लिखते हुए दुःख हो रहा है कि बख़्शी जी की भाषा को हम हिन्दी की आदर्श भाषा नहीं मान सके। हमें उनकी भाषा में, उसके पद-प्रकरण में, एक नहीं अनेक, यत्र-तत्र नहीं-प्रायः सर्वत्र, दोष ही दोष देख पड़ते हैं। सम्भव है, यह हमारी अल्पज्ञता का कारण हो; और यह भी सम्भव है कि सी० पी० (मध्यभारत) की हिन्दी भी कुछ ऐसी ही होती हो।

मार्च (१९२४) की 'सरस्वती' के दूसरे नोट के चौथे पैराग्राफ़ में है—"अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत ज़रूर हो गई है कि उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है।" इस पर निवेदन यह है कि, "उनकी स्थिति उन्नत होने के कारण उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है यदि इस प्रकार से भाव प्रकट किया जाता तो 'पड़ सकता है' क्रिया का प्रयोग शुद्ध माना जा सकता था। परन्तु, जब 'इतनी ऊँची'

की उन्नत दशा समझाने के लिये एक दूसरे वाक्य (clause) की सहायता ली गई तो 'पड़ सकता है', इस क्रिया का प्रयोग उस वाक्य में न होना चाहिये था। वहाँ इतनी बड़ी समापिका क्रिया की आवश्यकता न थी। वहाँ तो एक ऐसी क्रिया की आवश्यकता थी जो किसी विशेषण या परिचयरूप में व्यवहृत होने की सूचना स्वयं देती। हमारी मन्दबुद्धि के अनुसार तो वहाँ 'पड़ सकता है', नहीं 'पड़े' या 'पड़ सके' क्रिया का व्यवहार होना चाहिये था। सम्पूर्ण वाक्य इस तरह होता है—"अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत ज़रूर हो गई है, कि उनके कहने का प्रभाव पड़े या पड़ सके।"

× × ×

मार्गशीर्ष (१९८०) की 'माधुरी' का दूसरा नोट है—"मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का पुनीत कार्य"। इस पुनीत कार्य के लिये सम्पादक युगल की आशाजनक भाषा बड़ी ही निराशा की दृष्टि से समालोचकों की कृपा-भिक्षा मांग रही है। आप लिखते हैं—"किन्तु हमें आशा है कि जो सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित होने की वैसी इच्छा न रखते हों, वे भी केवल हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए मद्रास पहुँचें (!)" क्यों पण्डित-युगल! 'हमें आशा है···वे भी···मद्रास 'पहुँचें' (!) हरे हरे! आशाजनक वाक्य में "पहुँचें" आदेशदात्री क्रिया!—अथवा आग्रह की सूचना! आपलोगों को तो इस वाक्य का सम्पादन यों करना चाहिए था:—'किन्तु हमें आशा है, जो सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित होने की वैसी इच्छा नहीं रखते, वे भी, केवल हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इस अधिवेशन में सम्मिलत होने के लिये,

मद्रास, पहुँचेगें।" क्या आप अपने वाक्य से इसका मिलान करके अर्थ-संगति की परीक्षा न लेंगें ?

'माधुरी' के ११ वें नोट में आप स्वदेश को (!) गये थे। क्यों पण्डित जी ! 'आप स्वदेश को गये थे' में 'को' छूट जाने से क्या रस बिगड़ जाता है ! या भाषा अशुद्ध हो जाती है ? आप लिखते हैं—"आशा है, इस कार्य में (के लिये) भारतवासी यथेष्ट सहायता देकर परलोकगत ग्रियर्सन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने में पश्चात्पद न होंगे !"

आपके बारहवें नोट में है,-"आपको योरप में भेजा था"। वाह महाशय ! कभी लिखते हैं—'स्वदेश को गये थे, और कभी—-'योरप में भेजा था' ! 'यहाँ योरप भेजा था' लिखते तो क्या लखनऊ की हिन्दी की नाक कट जाती ?

आपके सुमन-संचय में कहीं कहीं सुमन की जगह काँटे ही रह जाते हैं। सुमन की ओर मनुष्य को पहले दृष्टि ही आकर्षित करती है, और सुमन के सौन्दर्य का आनन्दोपभोग पहले दृष्टि ही करती है। आपके इन सुमनों से जब दृष्टि लिपट जाती है, तब अज्ञान-वश जो काँटे उनमें रह जाते हैं वे बड़ी बेदर्दी से आँखों में छिद जाते हैं। जैसे आपके चौथे सुमन में हैं-'मूल लेखक के नाम तक को भी (!) उड़ा देते हैं।" यहाँ 'भी' एक वैसा ही काँटा रह गया है। यहाँ या तो 'तक' रखते और 'भी' को निकाल देते या 'भी' रख कर 'तक' को अलग कर देते। दोनों एक साथ रह कर काँटे से भी बुरी तरह चुभते हैं।

१२२ + १४ = १३६ पेज